# जैन भारती

मई, 2011 • वर्ष 59 • अंक 5 • वार्षिक रु. 200.00

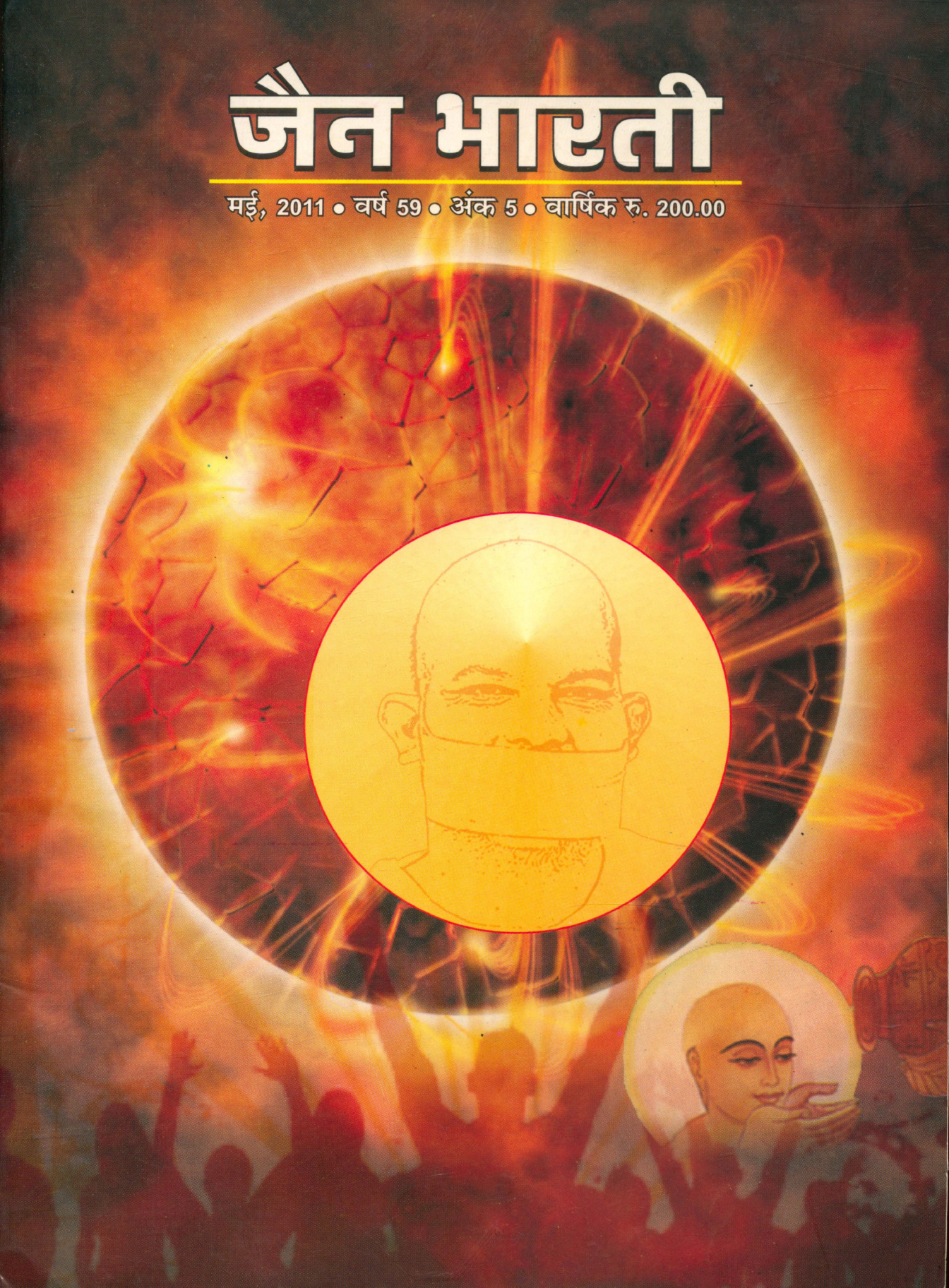

*With best compliments from :*

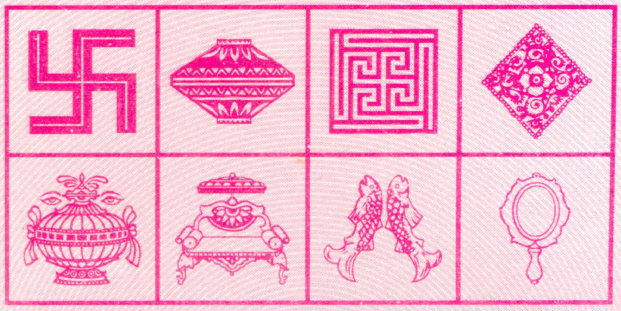

# बाबूलाल सुराणा

(पड़िहारा–गुवाहाटी)

## R. B. SURANA & SONS

I[st] Floor, Patodia Market
T.R.P. Road (Fancy Bazar)
**Guwahati** (Assam)
Ph. : 2545236, 2632560
Mob. : 094350-15572

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

# जैन भारती

वर्ष 59 • मई, 2011 • अंक 5

## विमर्श

11
*आचार्यश्री महाप्रज्ञ*
**श्रम की प्रतिष्ठा का आधार आत्मतुला की अन्वेषणा**

15
*साध्वी पुण्ययशा*
**अध्यात्म, स्तवन और भारतीय वाङ्मय**

•

*आवरण*
**गौरीशंकर**

## अनुभूति

21
*आचार्यश्री महाश्रमण*
**विकास का आधार कथनी-करनी संगति और भावविशुद्धि**

24
*मुनि राकेशकुमार*
**आचार्यश्री महाश्रमण नो निन्हवेज्जवीरियं**

27
*साध्वी स्वर्णरेखा*
**जीवन का सौंदर्य : पवित्रता; विनम्रता**

29
*साध्वी विश्रुतविभा*
**आचार्यश्री महाश्रमण : रहो भीतर; जीओ बाहर**

33
कहानी
*वीरेंद्रकुमार जैन*
**वैशाली के संथागार में**

40
कविता
**रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताएं**

## प्रसंग

7
*शुभू पटवा*
**श्रमः शरीर और मन**

## शीलन

43
*इला र. भट्ट*
**गरीबी : आय के 'गज' से न नापी जाए**

47
*मुनि आनंदकुमार 'कालू'*
**वर्षीतप : स्वर्णिम सूर्योदय**

53
*मुनि दीपकुमार*
**आचार्यश्री महाश्रमण : एक निर्लिप्त नेतृत्वकर्ता**

56
बालकथा
*व्यथित हृदय*
**रामगोपाल की खुशी**

**संपादकीय पता :** संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
**प्रकाशकीय कार्यालय :** जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
**प्रधान कार्यालय :** जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
**सदस्यता शुल्क :** वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

## दान मुख्यतः कायिक प्रयोग है

किसी ने कहा—'कोई मुख पर वस्त्र आदि दिए बिना बोल कर साधु को दान देता है, तो वह लेता है। और दाता का अनाज के एक दाने पर पैर टिक जाता है, तो उसके हाथ से साधु दान नहीं लेता और उसके घर से उस दिन के लिए भिक्षा अग्राह्य हो जाती है।'

तब स्वामीजी बोले—'साधु को कोई दान देता है, उसमें मुख्यतः कायिक प्रयोग होता है। चलते, उठते, बैठते, कायिक प्रयोग द्वारा अयतना (हिंसा) करके कोई साधु को दान देता है, दान देते समय कोई फूंक मार देता है और साधु ने उसके हाथ से भिक्षा लेनी स्वीकार कर ली है, तो उसके घर से उस दिन के लिए भिक्षा अग्राह्य हो जाती है। और यदि साधु ने उसके हाथ से भिक्षा लेना स्वीकार न किया हो और उठते समय उसने अयतना (हिंसा) की हो, तो उसी के हाथ से भिक्षा अग्राह्य होती है।

मुंह पर वस्त्र आदि दिए बिना बोलना वाचिक प्रयोग है। इस प्रकार बोलने से अयतना (हिंसा) होती है, पर उससे उस घर की तथा उस दाता के हाथ से भिक्षा लेनी अग्राह्य नहीं है। औपपातिक सूत्र में एक प्रकार का अभिग्रह है कि कोई दाता निंदा करता हुआ भिक्षा दे, तभी वह उसके हाथ से ली जा सकती है। तो जो निंदा करता है, गाली बकता है, वह कौनसी यतना करेगा? इस दृष्टि से वाचिक अयतना के कारण दाता के हाथ से भिक्षा अग्राह्य नहीं होती। इसलिए उसके हाथ से भिक्षा लेने में कोई दोष नहीं है।

## हमें क्रिया से क्या मतलब

कोई अज्ञानी कहता है—'हम तो रजोहरण और मुखवस्त्रिका को वंदना करते हैं, हमें क्रिया से क्या मतलब?'

इस पर स्वामीजी बोले—यदि रजोहरण को वंदना करने से कोई तरता है, तो रजोहरण तो ऊन से बनता है और ऊन भेड़ से पैदा होती है। यदि रजोहरण को वंदना करने से कोई तरता है, तो उसे भेड़ के पैर पकड़ना चाहिए—हे माता! तू धन्य है, तुमसे रजोहरण बनता है।

और यदि मुखवस्त्रिका को वंदना करने से कोई तरता है, तो मुखवस्त्रिका होती है कपास से और कपास 'बनी' से बनता है। यदि मुखवस्त्रिका को वंदना करने से कोई तरता है, तो उसे 'बनी' को वंदना करनी चाहिए—तू धन्य है, तुमसे मुखवस्त्रिका होती है। ●

हमारे देश की नई पीढ़ी आज दोहरे जीवन मूल्यों से गुजर रही है। एक ओर उसके पास अपनी सांस्कृतिक विरासत है तथा दूसरी ओर भोगवाद की चकाचौंध है। इस चकाचौंध में त्याग की चेतना ओझल हो गई है और युवा पीढ़ी मूल्यहीनता के अंधेरे कुएं में उतर रही है। भोगवादी मनोवृत्ति से जुड़ी उसकी आकांक्षाएं उसे चरित्र और नैतिकता के रास्ते से भटका रही हैं। इसीलिए कई समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं। अनुशासनहीनता, चरित्रहीनता, क्रूरता, असंतुलन, सांप्रदायिक उन्माद, जातिभेद एवं रंगभेद, अणु अस्त्रों की अविवेकपूर्ण प्रतिस्पर्धा आदि इस युग की प्रमुख समस्याएं हैं। इन समस्याओं के केंद्र में दो तत्त्व हैं—हिंसा और परिग्रह। इनकी धार इतनी पैनी है कि उससे आदमी भीतर ही भीतर कटता जा रहा है। उसकी चेतना क्षत-विक्षत हो रही है और वह एक अलक्षित वेदना के बोझ से दब कर कराह रहा है। ऐसी स्थिति में 'अणुव्रत' उसके सामने एक विकल्प है।

'अणुव्रत' मनुष्य-जीवन की न्यूनतम आचार-संहिता है। इसे आधार मान कर चलने वाला व्यक्ति क्रूर नहीं हो सकता, आतंकवादी नहीं हो सकता, छुआछूत और रंगभेद को प्रश्रय देने वाला नहीं हो सकता, सांप्रदायिक उन्माद नहीं फैला सकता, खाद्य पदार्थों में मिलावट नहीं कर सकता, वोटों का क्रय-विक्रय नहीं कर सकता, सामाजिक कुरूढ़ियों का पक्षधर नहीं हो सकता तथा मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं कर सकता।

अणुव्रत जिन जीवन-मूल्यों को समाज में प्रतिष्ठित करना चाहता है, वह उन पर मात्र उपदेश देकर निश्चिंत ही नहीं हो जाता, वह प्रायोगिक धर्म की बात भी करता है।

**—आचार्यश्री तुलसी**

हमारे दो जगत हैं—एक सूक्ष्म जगत और एक स्थूल जगत। सूक्ष्म जगत में जो होता है उसका हमें पता नहीं चलता। जब वह स्थूल जगत में बाहर आता है तब आदमी को पता चलता है। हर वस्तु पहले सूक्ष्म जगत में पलती है, फिर स्थूल जगत में प्रकट होती है। परिवर्तन की भी यही प्रक्रिया है। परिवर्तन निरंतर होता रहता है, पर एक बिंदु ऐसा आता है—तब हमें पता लगता है कि अब परिवर्तन हो गया है। किसी भी साम्राज्य का, किसी भी राष्ट्र का, किसी भी समाज का, किसी भी जाति और संगठन का इतिहास देखें, उसकी सूक्ष्मेक्षिका से समीक्षा करें, आपको पता चलेगा कि परिवर्तन कैसे हो रहा था। जैसे आवां से घड़ा निकाला। घड़ा गर्म था, पानी की एक बूंद डाली, पता ही नहीं लगा। दो डाली, पता ही नहीं लगा। पानी डालते चले जाओ। डालते-डालते एक क्षण ऐसा आएगा कि घड़ा गीला हो गया है। प्रश्न हो सकता है कि घड़ा किस बूंद से गीला हुआ? क्या पानी की अंतिम बूंद से गीला हुआ? कभी नहीं हो सकता। पहली बूंद ने ही घड़े को गीला करना शुरू कर दिया, पर गीला हुआ है—यह आभास तब होता है, जब अंतिम बूंद गिरती है। परिवर्तन की यही प्रक्रिया है—चलते-चलते एक क्षण ऐसा आता है, तब पता चलता है कि आज परिवर्तन हो गया, आज क्रांति हो गई। आज सेना ने क्रांति कर दी। आज अमुक संस्था ने क्रांति कर दी। आज अमुक विद्वान ने, आचार्य ने क्रांति कर दी। क्रांति एक दिन में कभी घटित नहीं होती। उस प्रक्रिया के अंतिम क्षण का हमें पता लगता है। परिवर्तन हो रहा था, उसका पता नहीं चलता।

**—आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

आहार का विषय उपेक्षणीय नहीं है। वर्तमान साहित्य को पढ़ने वाले सभी जन तीन शब्दों से बहुत परिचित हैं—अपोषण, कुपोषण और पोषण। अपोषण और कुपोषण—दोनों कठिनाई पैदा करते हैं। जबकि पोषण सम्यक् होना चाहिए। भोजन से संतुलित होना चाहिए। ऐसा भोजन नहीं, जो प्राणशक्ति को क्षीण करे। हमारी दो प्राण ऊर्जाएं हैं। एक वह है, जो जीवन का मूल आधार है। दूसरी वह है, जो भोजन के द्वारा निष्पन्न होती है। आयुर्वेद में पांच प्राण माने गए हैं। उसमें एक प्राण या वायु है—समान। वह पाचन के लिए उत्तरदायी है। उसे अग्नि भी कहते हैं। उसका स्थान है—नाभि या तैजस केंद्र। हम जो खाते हैं—'समान-प्राण' उसमें ऊर्जा पैदा करता है। प्राण के उत्पादन का स्थल है—नाभि का परिपार्श्व। हम ऐसा भोजन न करें, जिससे 'समान-वायु' को कठिनाई पैदा हो जाए। स्थानांग-सूत्र में अकाल-मृत्यु का एक कारण आहार बतलाया है। ज्यादा खाने से पाचनतंत्र शिथिल होता है और प्राणशक्ति क्षीण होती है।

भोजन के संदर्भ में यह विवेक जरूरी है कि किसी भी तत्त्व का अतिमात्रा में सेवन न हो। मात्रा का विवेक आवश्यक है। यदि हम स्वयं अपने परीक्षक बन जाएं तो मिताहार का मूल्य समझ में आ जाए। परिमित या संतुलित भोजन सबको मिल जाए—यह शायद कुछ कठिन है, किंतु जो मिलता है, उसका उपयोग कैसे करें? कुछ ऐसे विकल्प हैं—जो किसी भी तत्त्व की कमी को पूरा कर देते हैं। शरीर में लौह की कमी है, तो आदमी चिड़चिड़ा हो जाता है। कुछ ऐसे 'विटामिन' हैं, जिनकी कमी शारीरिक ही नहीं, मानसिक आदतों को भी प्रभावित करती है। इस दृष्टि से भी अध्ययन किया गया कि अमुक तत्त्व नहीं मिलते हैं तो समस्या पैदा होती है और ज्यादा मात्रा में खाए जाते हैं तो समस्या उभर आती है। इसीलिए संतुलित भोजन पर बल दिया गया है।

मिताहार का शाब्दिक अर्थ है—परिमित भोजन। पर, इसका तात्पर्य यह भी है कि ऐसा न खाएं, जिससे 'ध्यान-साधना' में बाधा आए, मन और शरीर का स्वास्थ्य प्रभावित हो। अतः यह आवश्यक है कि पाचनतंत्र, उत्सर्जनतंत्र और आहार—इनके बारे में पूरी जानकारी हो, जिससे शारीरिक, मानसिक और चिंतनात्मक स्वस्थता बनी रहे।

—आचार्यश्री महाश्रमण

प्रसंग

# श्रम : शरीर और मन

यह समझना निरी भूल होगी कि श्रम केवल शरीर से ही होता है और जो मानसिक श्रम करते हैं, वह श्रम नहीं—श्रम का विलास है। महात्मा गांधी ने शरीर-श्रम को जो महत्त्व दिया और अपने एकादश व्रत में उसे जो जोड़ा—वह 'शरीर-श्रम' को प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए ही रहा होगा, इसलिए नहीं कि उन्हें 'मानसिक श्रम' और 'शरीर-श्रम' के मध्य किसी तरह की होड़ करनी हो। गांधी ने यह इसलिए भी किया कि 'शरीर-श्रम' की महत्ता दोयम न मानी जाए। दोनों का अपना महत्त्व है, दोनों के मध्य कोई होड़ नहीं है, बल्कि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, समतुल्य हैं।

पर, हमारे समाज का यह दुर्भाग्य ही रहा है कि शरीर-श्रम को आज भी दोयम ही माना जाता रहा है। यंत्रों का अपरिमित उपयोग जिस तरह बढ़ रहा है, उसका एक कारण यही है। छोटे से छोटे स्तर पर जहां यंत्रों का बेहिसाब उपयोग होता है, वहां न बुद्धि का काम है और न शरीर की क्षमता का। एक बार यंत्र को चाहे अनुसार स्थिर कर के निश्चिंत हुआ जा सकता। उस यंत्र से फिर जो भी निकलेगा, वह वांछित हो या न हो—इस पर किसी का काबू नहीं। मिसाल के तौर पर कपड़े धोने की मशीन ले लें और चाहें तो रसोई में काम आने वाली 'मिक्सी' ले लें। कपड़े का कोई दाग छूटा या नहीं, मशीन को इससे कोई सरोकार नहीं। ठीक यही बात 'मिक्सी' की है—वह कम-अधिक, मोटा-बारीक खुद कहां तय कर पाती है। जो डाला है—उसे पीस कर मशीन को निकाल देना है। वह मोटा है या बारीक—कोई सुघड़ नारी यदि बीच-बीच में जांच ले तो बात अलग, पर 'मिक्सी' या 'चक्की' इन बातों से कोई सरोकार नहीं रखती।

गांधी के नाम से बहुत सी बातें चल पड़ी हैं और एक यह भी कि गांधी यंत्र-विरोधी थे। वे थे यंत्र-विरोधी, पर उन यंत्रों के विरुद्ध वे थे, जो मनुष्य की नैसर्गिक श्रम क्षमता का ह्रास करते हैं। बाकी तो गांधी ने चश्मा, घड़ी और चरखा को भी यंत्र ही माना है। वे उबाऊ शरीर-श्रम के भी विरोधी थे। इसलिए सिलाई मशीन के विरोधी वे नहीं थे। क्या इन सबके उपयोग में केवल शरीर-श्रम ही लगता है; बुद्धि नहीं? सिलाई की मशीन से कपड़ा सिलना क्या कला नहीं? आपका मन और बुद्धि, दोनों जब तक संलग्न न हो और मशीन को चलाने की शरीर क्षमता जब तक न आ जाए—क्या कपड़ा सिला जा सकता है? शरीर, मन और बुद्धि का अनूठा तादात्म्य हम इसमें देख सकते हैं। गांधी ऐसे यंत्रों के कभी विरोधी नहीं रहे।

उपर्युक्त विवेचन से हम इतना निष्कर्ष तो असल में निकाल ही सकते हैं कि भले कैसा ही शरीर-श्रम हो, उसमें बुद्धि और मन—दोनों समान रूप से संयुक्त रहते हैं। हम कह सकते हैं कि श्रम, शरीर और मन—तीनों का संयोजन अथवा महत्ता निर्विवाद है।

पिछले दिनों एक बोध-कथा पढ़ने का अवसर मिला, जिसे यहां उद्धृत करने का मन हो रहा है। कथा के अनुसार किसी संपन्न व्यक्ति के बागीचे का माली बड़ी सतर्क दृष्टि और पूरी तन्मयता से बागीचे की देखभाल करता है और बागीचे का मालिक उसके काम-काज से बड़ा संतुष्ट रहता है। हरे-भरे बागीचे से खुश हुआ मालिक बाग में अंजीर का पौधा लगाने की इच्छा माली से प्रकट करता है। मालिक की इच्छानुसार माली अंजीर का पौधा

रोप देता है। समय के साथ पौधा पेड़ बन जाता है, पर मालिक की इच्छा तो पेड़ से फल प्राप्त करने की होती है, जो पूरी न होने से मालिक निराश हो जाता है और क्षुब्ध हुआ बागीचे के रखवाले अपने माली से कहता है कि इस पेड़ ने तो एक भी फल नहीं दिया और निरर्थक ही जमीन घेर ली है। अंजीर के इस पेड़ की क्या जरूरत; इसे हटा दो, काट डालो। माली के धैर्य की यह परीक्षा ही थी—जैसे! माली बोला—मालिक एक साल और रहने दीजिए। मैं थोड़ी कोशिश और कर लेता हूं, शायद आपकी आशा फलवती हो जाए। माली की ईमानदारी, काम के प्रति लगन और समझ के आगे मालिक की सहमति स्वाभाविक थी। माली ने उस पेड़ की परवरिश पर कुछ ध्यान दिया। खाद-पानी का पूरा खयाल किया। साल भर बीतते-बीतते फल आने लगे।

यह कहानी एक ओर जहां माली के श्रम का प्रतिफल बताती है, वहीं उसकी समझ और बुद्धि की झलक भी देती है। बागीचे का मालिक नहीं जानता था कि फल कब जाकर लगते हैं। कब, कैसा और कितना खाद-पानी दिया जाना चाहिए। मालिक की समझ और बुद्धि अपनी जगह महत्त्वपूर्ण है और उसे उसका सिद्धहस्त भी माना जा सकता है, पर उस माली की समझ और बुद्धि ही अंजीर के पेड़ से फल प्राप्त करने में कामयाब हो सकी—यह हमें स्वीकार करना चाहिए।

यह बोध-कथा हमें यह मानने को विवश करती है कि शरीर-श्रम, मन और बुद्धि ऐसे मिले-जुले युग्म हैं कि किसी एक का नहीं, पूर्ण युग्म की महत्ता निहित है। साफ है कि भले कोई कितना ही कुशाग्र बुद्धि हो, जिस तरह वह भी शरीर-श्रम कर रहा होता है, उसी तरह चाहे कोई कितना ही शरीर-श्रम पर अवलंबित हो, मानसिक बुद्धि का उपयोग उसे भी करना ही होता है। अतः श्रम के स्तर पर शरीर और मन—दोनों का समानुपातिक महत्त्व और अर्थ है।

श्रम, शरीर और मन के साथ ही यह बोध-कथा हमें धैर्य की सीख भी देती है। कोई भी श्रम निरर्थक नहीं होता, पर उसके अपेक्षित फल सदा धैर्य में ही निहित हैं। माली ने अपने मालिक को एक साल तक धैर्य रखने का ही तो कहा था। मालिक ने धैर्य रखा तो फल भी प्राप्त हुआ।

हम जानते हैं कि यंत्र का संचालन उसकी अपनी समझ से नहीं होता। करता कोई हाथ ही है, यानी कि मनुष्य ही उसे संचालित करता है। यंत्र के संचालित होने के बाद वह चलता है, पर अपनी समझ से नहीं, बेसमझी से। समझ मनुष्य के मस्तिष्क में ही होती है। गरज यह कि मस्तिष्क से बड़ा कोई यंत्र नहीं। और, मस्तिष्क मनुष्य के ही पास है। मनुष्य के ही पास दो हाथ और दो टांगें हैं, जो शरीर-श्रम के प्रतीक हैं। स्पष्ट है कि मस्तिष्क, दो हाथ और दो टांगें—इस तालमेल से होने वाला श्रम ही सार्थक श्रम है। जो यंत्र इस तालमेल को बिगाड़ते हैं, वे न श्रम की महत्ता बढ़ाते हैं और न इस प्रकृति के संपोषक हो सकते हैं। ये केवल विलास के पोषक हैं। इसीलिए गांधी के ग्यारह व्रतों में 'शरीर-श्रम' एक व्रत माना गया कि विलास बेकाबू न हो। आज इसी बेकाबू हुए जाने का दंश यह जगत झेल रहा है।

भगवान महावीर ने जिन पांच महाव्रतों की बात की है, उनके दो सूत्र अहिंसा और अपरिग्रह हैं। ये सूत्र किसी भी स्तर पर शोषण का निषेध करते हैं। शोषण न करना प्रकारांतर से श्रम की प्रतिष्ठा करना ही है। जैन मत का विश्वास पुरुषार्थवाद में है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तो यहां तक मानते हैं कि—'मनुष्य ने जिन सचाइयों का पता लगाया है, वह सब मानवीय श्रम और पुरुषार्थ के द्वारा ही हुआ है।' वे तो यहां तक मानते हैं कि—'श्रमनिष्ठा का सिद्धांत जीवन शैली का मुख्य अंग होना चाहिए।'

विश्व श्रम दिवस पर दुनिया भर के मजदूरों के एक होने की आवाज उठती है। यह आवाज इस रूप में भी उठनी चाहिए कि हमारी जीवन शैली का मुख्य अंग श्रमनिष्ठा होगा। यह आज के वक्त का तकाजा है।

**—शुभू पटवा**

[आचार्यश्री महाश्रमणजी तेरापंथ के ग्यारहवें अधिष्ठाता हैं। यह सुयोग ही है कि उनका जन्मदिन (12 मई), पदाभिषेक दिवस (13 मई) और दीक्षा दिवस (16 मई, जो युवा दिवस के रूप में स्वीकृत है) एक साथ मई माह में हैं। सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी मई माह की महत्ता है। अक्षय तृतीया : वर्षीतप (6 मई) और विश्व श्रम दिवस (1 मई) जैसे अवसर भी इसी माह में हैं। इन अवसरों पर **जैन भारती** के इस अंक में कुछ विशेष सामग्री अपने पाठकों के लिए हमने दी है। हां! आचार्यश्री महाश्रमणजी के प्रति अभिवंदना; इन महती दिवसों के उपलक्ष में। —सं.]

●●

**जैन भारती** के अप्रैल अंक के पृष्ठ 27 पर **महावीर जयंती** : 18 अप्रैल छपा है। वस्तुतः यह 16 अप्रैल है। हमारे एक सुधी पाठक की ओर से इस सुधार के लिए ध्यान दिलाने पर उनका आभार।

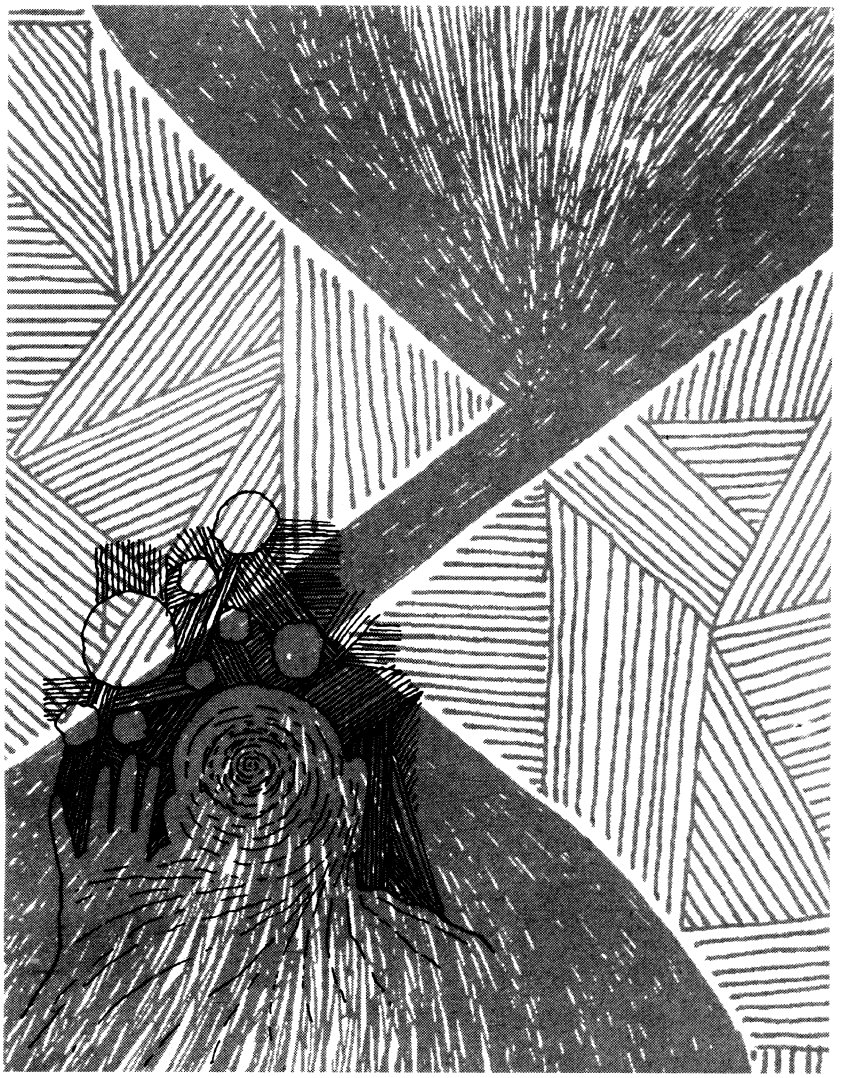

# विमर्श

धर्म की धारणा ऋत के विचार का ही विकास है, जो ऋग्वेद में सांसारिक और नैतिक व्यवस्था का द्योतक है। ऋत, जो संसार को तार्किक दृष्टि से महत्त्व और नैतिक दृष्टि से ऊंचा स्थान प्रदान करता है, वरुण द्वारा रक्षित है। गीता का परमात्मा धर्म का रक्षक है, शाश्वत धर्मगोप्ता (11, 18), अच्छाई और बुराई से परे विद्यमान ऐसा परमात्मा नहीं, जो बहुत दूर हो और जिसे अधर्म के साथ चल रहे मनुष्य के संघर्षों की परवाह न हो।

—डॉ. एस. राधाकृष्णन्

**संदर्भ : अंतरराष्ट्रीय श्रम दिवस**

*शोषण के परिहार का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है आत्मतुला का सिद्धांत। किसी की आजीविका मत छीनो, किसी का शोषण मत करो। यदि इस सिद्धांत पर अमल होता तो हड़तालें नहीं होतीं, मिलें बंद नहीं होतीं। अहिंसा और समता के माध्यम से मानवीय चेतना को जगाने का जितना काम भगवान महावीर ने किया, उतना किसी ने किया या नहीं—यह भी अनुसंधान का विषय है। आचारांग सूत्र में अहिंसा और समता की चेतना से समृद्ध समाज-रचना के सूत्र भरे पड़े हैं। क्रांति का सूत्र है—आचारांग। उसका एक सूत्र है—आदमी तराजू के एक पल्ले में अपने को बिठाए, दूसरे पल्ले में सामने वाले प्राणी को बिठाए और दोनों को समदृष्टि से तोले, आत्मतुला की अन्वेषणा करे। यही सच्ची खोज और अन्वेषणा है। श्रम की प्रतिष्ठा का आधार इसी में निहित है।*

# श्रम की प्रतिष्ठा का आधार : आत्मतुला की अन्वेषणा

*आचार्यश्री महाप्रज्ञ*

समता के लिए तराजू की उपमा प्रयुक्त हुई है। न्याय के लिए भी तराजू की उपमा ही प्रयुक्त होती है। यद्यपि हमारे कवियों ने तुला में भी दोष देखा है और कहा है—हे तुला! तुम तो प्रामाणिक हो, सबको ठीक मापती हो। फिर भी तुम न्याय नहीं करती। जो भारी होता है, उसे नीचे ले जाती हो और जो हलका है, उसे ऊपर उठा देती हो। कहा भी है—

**प्रामाणिक पद गही तुला, यह तुम करत अन्याय।**
**अध पद देत गरिष्ठ को, लघु उन्नत पद पाय।।**

फिर भी तुला प्रतिष्ठित है। जो दूसरों को तोल सके वह बहुत बड़ा है। तराजू के साथ समता की बात जुड़ी हुई है, न्याय की बात जुड़ी हुई है। तराजू के दोनों पल्ले समान होने चाहिए।

## अनध्यवसाय : प्रत्यभिज्ञान

आचारांग शास्त्र में भी तुला शब्द का प्रयोग किया गया है—'**एयं तुलमन्नेसिं**—इस तुला की अन्वेषणा करो।'—तुला का संधान सफल होना चाहिए। यह नहीं कहा गया, इस तुला को देखो। देखने की प्रक्रिया का एक नाम है—अनध्यवसाय। आदमी बाजार में जाता है, हजारों चीजों को देखता है। उससे पूछा जाए कि अमुक दुकान में कौन-कौन-सी चीजें थीं? उसका उत्तर होगा—मुझे पता नहीं। बाजार में हजारों लोग मिलते हैं। किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि तुमने कितने लोगों को देखा? तुम्हें कितने व्यक्ति मिले? वह इसका सम्यक् उत्तर नहीं दे पाएगा। इस दर्शन का नाम है—अनध्यवसाय। जिसके साथ अध्यवसाय नहीं जुड़ता, उसे पहचाना नहीं जा सकता।

दूसरा तत्त्व है—प्रत्यभिज्ञान। कभी-कभी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का नाम, पता आदि पूछ लेता है और जब कभी पुनः मिलता है, तब उसे पहचान भी लेता है। यह है प्रत्यभिज्ञान। पहचानने जैसा निरीक्षण।

पर, अनध्यवसाय और प्रत्यभिज्ञान—इन दोनों से कोई सार्थक निष्पत्ति उपलब्ध नहीं होती।

## अन्वेषण

तीसरा तत्त्व है—अन्वेषण, सतत निरीक्षण। सतत निरीक्षण के बिना ज्ञान और सत्य की प्राप्ति संभव नहीं है। वस्तुतः सतत निरीक्षण ही अनुसंधान है। एक, दो या पांच बार देखना सतत संधान नहीं होता। सतत संधान का अर्थ है—जब तक किसी वस्तु के नियम का पता नहीं चले, तब तक उसे देखते चले जाना। यदि हमें एक श्लोक के हृदय को समझना है, तो उसे एक-दो बार पढ़ कर नहीं समझा जा सकता। हम उस श्लोक को पढ़ें, पढ़ते चले जाएं और तब तक पढ़ते रहें, जब तक कि वह श्लोक अपना अर्थ स्वयं प्रकट न कर दे। जब श्लोक अपना अर्थ प्रस्तुत करेगा, तब हम उसके हृदय तक पहुंचने में सफल होंगे।

अतः बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है—तुला का अन्वेषण करो, खोजते चले जाओ। जब तक चलनी में पानी न जम जाए, नियम का पता न लग जाए तब तक खोजते चले जाओ। आज यह नियम ज्ञात है कि जहां-जहां धुआं है, वहां-वहां अग्नि होगी। यह अकाट्य नियम है, पर जहां अग्नि है—वहां धुआं होगा ही, यह जरूरी नहीं है। अग्नि धुएं के बिना भी हो सकती है, पर धुआं अग्नि के बिना नहीं होता। यह एक सामान्य नियम लगता है, लेकिन इस नियम का पता लगाने में न जाने कितनी पीढ़ियां खपी हैं, न जाने कितने विद्वानों को खपना पड़ा है।

## जरूरी है सतत प्रयत्न

ज्ञान-प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करना होता है। इसके बिना ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए सबसे पहले निरीक्षण करना होता है। हम जैसे-जैसे निरीक्षण करेंगे, वैसे-वैसे तथ्यों का पता लगने लगेगा। तथ्यों का निरीक्षण करना बहुत जरूरी है। हम एक कपड़ा हाथ में लें और उसका निरीक्षण करते चले जाएं तो कुछ क्षणों के बाद कपड़े का रंग बदलने लगेगा। जब हमारा निरीक्षण उस पर सघन रूप से केंद्रित होगा, तब कपड़ा अपनी गाथा कहने लगेगा—मैं क्या हूं, किससे बना हूं और मैं कैसा हूं—आदि-आदि सारी बातें कपड़ा कह देगा, जिसे सुन कर हम आश्चर्य करेंगे।

धन्वंतरि और लुकमान ने पौधों के गुण-धर्म का पता कैसे लगाया? वे पौधे के पास जाकर बैठ जाते, उसका सघन निरीक्षण करते और उससे पूछते—बताओ! तुम्हारा नाम क्या है? तुम्हारा गुण-धर्म क्या है? तुम्हारा उपयोग क्या है? निरीक्षण करते-करते एक क्षण ऐसा आता है कि पौधा अपने आप सब कुछ कह देता है। मेरा यह नाम है, मेरा यह गुण-धर्म है, मैं अमुक बीमारी के लिए उपयोगी हूं—आदि-आदि। बिना प्रयोगशाला गए ये सारे अन्वेषण किए गए, जो पूरी तरह सफल रहे, पर यह जीवन की प्रयोगशाला तो है ही।

## परीक्षण की फलश्रुति

आज प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिक बैठते हैं, परीक्षण, निरीक्षण और प्रयोग करते चले जाते हैं। ऐसा करते-करते वे तथ्य और नियम को पकड़ लेते हैं। समुद्र में तेलवाहक जहाज चलते रहते हैं। कभी-कभी वे जहाज तूफान आदि की चपेट में आकर, टकरा कर टूट जाते हैं। 'टैंकर' का सारा तेल समुद्र की सतह पर फैल जाता है। समुद्र के जल के ऊपर तेल की परत जम जाती है। समुद्र का पानी काम का नहीं रहता। वह जीवों को नुकसान भी पहुंचाता है। कहते हैं कि किसी भारतीय वैज्ञानिक ने एक ऐसे जीवाणु का पता लगाया जिसे यदि समुद्र में छोड़ दिया जाए, तो वह समुद्र के जल पर फैले हुए तेल को खा जाएगा, समुद्र का पानी पुनः स्वच्छ बन जाएगा।

## महत्त्वपूर्ण सूक्त

जीवाणुओं की खोज का ऐसा कार्य सतत निरीक्षण और गहन अनुसंधान से संभव बना है। इसी तरह किसी भी चीज को एक-दो बार देखने या पढ़ने मात्र से सचाई का पता नहीं चल सकता। जब दृढ़ संकल्प और सतत निरीक्षण का योग होता है, तभी नियम या सत्य का पता चलता है। बहुत कठिन होता है नियम का पता लगाना और उसे पाना। सत्य की प्राप्ति सहज नहीं है, इसीलिए अन्वेषण का मूल्य बना हुआ है। इस वैज्ञानिक युग में वह अधिक प्रासंगिक और मूल्यवान सिद्ध हुआ है।

कहा गया—तुला का अन्वेषण करें। प्रश्न होता है—तुला क्या है? उसका निरीक्षण-अन्वेषण कैसे करें?

आचारांग शास्त्र का महत्त्वपूर्ण सूक्त है—

**जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ।**
**जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ।।**

जो अपने आपको जानता है, वह दूसरे को जानता है। जो दूसरे को जानता है, वह अपने आपको भी जानता है।

कल्पना करें—दो जीव हैं। एक व्यक्ति स्वयं है और एक दूसरा आदमी है। व्यक्ति पहले अपने आपको देखे। वह सोचे कि मुझे किसी ने गाली दी तो मुझ पर क्या प्रतिक्रिया हुई? मेरे मन पर कैसा असर हुआ? मेरे मन में क्या भावना आई? अपने भीतर गाली की क्या प्रतिक्रिया हुई? वह उसका निरीक्षण करे। उसी व्यक्ति ने सामने वाले व्यक्ति को गाली दे दी। वह देखे कि इस व्यक्ति के भीतर क्या प्रतिक्रिया हो रही है? जो अपने भीतर प्रतिक्रिया हुई, क्या वैसी ही दूसरे के भीतर प्रतिक्रिया हुई? या अन्य प्रकार की प्रतिक्रिया हुई? व्यक्ति सामने वाले व्यक्ति की प्रतिक्रिया को पढ़े और उसके सदंर्भ में पुनः अपने आपको देखे, देखता चला जाए।

## पढ़ें सुख-दुख के संवेदन

अनुमान लगाएं कि गर्मी के मौसम में एक व्यक्ति ठंडी हवा के झोंकों के बीच बैठा है। ठंडी हवा से उस व्यक्ति को सुख मिलता है, आपको कैसा लगा? सामने वाले को ठंडी-ठंडी हवा लगी, तो उसे कैसा लगा? आपको गर्म हवा लगी तो आपको कैसा लगा? और उसे गर्म हवा लगी तो उसे कैसा लगा? हम इस नियम को आगे बढ़ाएं। कल्पना करें कि गर्मी का मौसम है और हमारे पास एक ही कमरा है। उसमें एक ही दरवाजा है। एक व्यक्ति उस दरवाजे के बीच जाकर बैठ गया। उसे वहां बैठना कैसा लगेगा? आपको कैसा लगेगा? दूसरा व्यक्ति उससे कहे—भीतर बैठ जाओ, तो उसे कैसा लगेगा? आपको कैसा लगेगा? आप इस नियम को पढ़ें, इस घटना का निरीक्षण करें। इसका अर्थ है—अपने एवं सामने वाले व्यक्ति के सुख-दुख के संवेदन को पढ़ना। हम पढ़ें, निरीक्षण करें, पढ़ते चले जाएं, निरीक्षण करते चले जाएं। पढ़ते-पढ़ते, निरीक्षण करते-करते एक क्षण वह आएगा, जब हम आत्म-तुला को साक्षात कर लेंगे।

## आत्म-तुला का सिद्धांत

भगवान महावीर को एक दिन में ही यह पता नहीं चला कि जैसे मुझे सुख प्रिय और दुख अप्रिय होता है, वैसे ही सामने वाले प्राणी को भी सुख प्रिय और दुख अप्रिय होता है। सतत निरीक्षण और अन्वेषण से ही भगवान महावीर ने इस नियम का पता लगाया और आत्म-तुला के सिद्धांत की स्थापना हो गई। महावीर ने कहा—ऐसे-ऐसे लोग भी हैं, जो कहते हैं कि हमें दूसरों से क्या? हमें अपना देखना है। हम किस-किस की चिंता करें? वे दूसरों की चिंता नहीं करते। नौकरों, कर्मचारियों और शूद्रों की चिंता नहीं करते, पशु-पक्षी और सामान्य प्राणियों की चिंता नहीं करते। मध्यकाल में स्त्रियों के लिए तो ऐसे कठोर नियम बना दिए गए कि जिनमें क्रूरता ही क्रूरता झलकती थी। कारण यही रहा—आत्म-तुला के नियम को समझा नहीं गया।

## निदर्शन की भाषा

भगवान महावीर ने इस सिद्धांत को उदाहरण की भाषा में समझाया। पचास आदमी बैठे हैं और एक अंगीठी में अंगारे जल रहे हैं। मुखिया व्यक्ति ने एक व्यक्ति से कहा—अंगार-पात्र उठा कर अमुक व्यक्ति के हाथ में रख दो। वह व्यक्ति संडासी से अंगार-पात्र उठा कर दूसरे व्यक्ति के हाथ में रखेगा। वह सोचता है कि यदि मैं अपने हाथ से अंगार-पात्र उठाऊंगा तो मेरा हाथ जल जाएगा, किंतु वह यह नहीं सोचता कि हाथ से अंगार-पात्र उठाने से मेरा हाथ जलता है तो उसका भी हाथ जल सकता है। उसका हाथ भी मेरे जैसा ही है। जिस व्यक्ति में ऐसा चिंतन जागता है, वह दूसरे के हाथ पर अंगार-पात्र नहीं रख पाएगा। स्वयं संडासी से अंगार-पात्र उठाए और दूसरा उसे हाथ में ले, यह न्याय या आत्म-तुला की बात नहीं है। पक्षपात और विषमता की बात है।

## व्यवहार-परिवर्तन का सिद्धांत

आदमी अपने लिए सुख चाहता है, पर दूसरे की कठिनाई को नहीं समझता। वह इस नियम को नहीं जानता कि मुझ पर कुछ होता है, तो क्या बीतती है? सामने वाले

व्यक्ति पर भी वैसा ही बीतता होगा। हम सामने वाले प्राणी के विषय में सोचें। चाहे वह मनुष्य है, गाय है, घोड़ा है, कुत्ता है, वनस्पति या मिट्टी है। हम इस बात पर ध्यान दें कि यदि मैं इसके स्थान पर होता तो मुझ पर क्या बीतती? यदि यह नियम समझ में आ जाए, आत्मसात हो जाए तो आदमी का सारा व्यवहार बदल जाए।

आत्म-तुला का यह सिद्धांत—जिसका भगवान महावीर ने प्रतिपादन किया, हमारे समूचे व्यवहार के परिवर्तन का सिद्धांत है। जो अपने अध्यात्म के नियम को जानता है, वह बाहर के नियम को जानता है और जो बाहर के नियम को जानता है, वह अपने अध्यात्म के नियम को भी जानता है। बाहर या भीतर, अपना या पराया—दोनों के लिए नियम समान हैं। इस बात को जान लें तो व्यवहार बदल जाएगा।

## कठिन है निरीक्षण करना

हमारी समस्या यह है कि अपने एवं अपने परिवार के लिए नियम दूसरा होता है और दूसरे लोगों के लिए नियम कोई दूसरा होता है। आज जितना मिलावट का धंधा चलता है, वह दूसरों के लिए है, अपने लोगों के लिए नहीं है। इसका कारण है कि व्यक्ति आत्म-तुला के सिद्धांत को नहीं जानता, इस तुला का अन्वेषण नहीं करता।

बहुत कठिन है निरीक्षण करना, अन्वेषण करना। आदमी 'शॉर्टकट' से जाना चाहता है। आज तो राजपथ भी संकरे हो गए हैं। इससे समस्या पैदा हो गई और आत्मतुला का सिद्धांत जटिल बन गया है। दूसरों की बात छोड़ दें, धार्मिक लोग भी इस सिद्धांत का प्रयोग नहीं करते हैं। अगर धार्मिक लोग इस तुला का प्रयोग करें तो मानवीय संबंधों में परिवर्तन आ सकता है।

## वर्तमान समस्या

आज की सबसे बड़ी समस्या है—मानवीय संबंधों में तनाव और संघर्ष। पुरानी पीढ़ी के लोग सहन करना जानते थे, किंतु आज लोगों की समझ बढ़ी है, उनमें संवेदनशीलता भी बढ़ी है। दुर्भाग्य से इसी संवेदनशीलता के कारण आपसी संबंधों में तनाव और संघर्ष के स्फुलिंग भी उछलते रहते हैं। भगवान महावीर ने आत्मतुला के सिद्धांत का व्यवहार के संदर्भ में प्रतिपादन किया। जैन श्रावक की आचार-संहिता आत्मतुला के सिद्धांत का व्यावहारिक रूप है। श्रावक की आचार-संहिता का एक नियम है कि मैं अपने आश्रित प्राणी की आजीविका का विच्छेद नहीं करूंगा। चाहे वह नौकर है, कर्मचारी है या पशु। जो आश्रित है, वह उसकी आजीविका का विच्छेद नहीं कर सकता।

## शोषण-परिहार का सिद्धांत

आज शोषण की समस्या गंभीर है। यह स्वर उभर रहा है कि शोषण नहीं होना चाहिए, श्रम का उचित मूल्य मिलना चाहिए। यदि हम अतीत को पढ़ें तो हमारा निष्कर्ष होगा कि शोषण का विरोध सबसे पहले भगवान महावीर ने किया। महावीर ने कहा—किसी के भक्तपान का विच्छेद मत करो। जो व्यक्ति जिसे पाने का हकदार है, उसे तुम मत छीनो। वह श्रम करता है और तुम उसका हक छीन लेते हो, यह न्याय नहीं है। शोषण के परिहार का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है आत्मतुला का सिद्धांत। किसी की आजीविका मत छीनो, किसी का शोषण मत करो। यदि इस सिद्धांत पर अमल होता तो हड़तालें नहीं होतीं, मिलें बंद नहीं होतीं। अहिंसा और समता के माध्यम से मानवीय चेतना को जगाने का जितना काम भगवान महावीर ने किया, उतना किसी ने किया या नहीं—यह भी अनुसंधान का विषय है। आचारांग सूत्र में अहिंसा और समता की चेतना से समृद्ध समाज-रचना के सूत्र भरे पड़े हैं। क्रांति का सूत्र है—आचारांग। उसका एक सूत्र है—आदमी तराजू के एक पल्ले में अपने को बिठाए, दूसरे पल्ले में सामने वाले प्राणी को बिठाए और दोनों को समदृष्टि से तोले, आत्मतुला की अन्वेषणा करे। यही सच्ची खोज और अन्वेषणा है। श्रम की प्रतिष्ठा का आधार इसी में निहित है। ❖

ब्रह्मचर्य का ठीक अर्थ तो ब्रह्म की खोज है···· और यह खोज इंद्रियों के संपूर्ण संयम के बिना असंभव है, इसलिए इसका अर्थ है, सब इंद्रियों का हर समय, हर जगह, मन, वचन और कर्म से संयम।

**—महात्मा गांधी**

दो किस्तों में समाप्य
आलेख की पहली कड़ी

भारत सदैव त्याग और वैराग्य का केंद्र स्थल रहा है। आज तक जो भी विभूतियां संसार में पूजनीय, वंदनीय एवं स्मरणीय बनी हैं, उनके जीवन में नैसर्गिक अध्यात्मवाद कूट-कूट कर भरा रहा है। निस्संदेह भौतिक-विज्ञान की अपेक्षा आत्म-विज्ञान कहीं अधिक सूक्ष्म, गहन और कल्याणकारी है। यह सदा-सर्वदा हितकर और मंगलप्रद रहा है। इसमें कभी, कहीं, किसी तरह के अहित की संभावना नहीं रहती है। मानव विकास की चरम परिणति भौतिकवादी अभ्युत्थान में नहीं, वरन आध्यात्मिक गतिशीलता और आत्म-कल्याण में ही है। आध्यात्मिक स्फुरणा को सतत गतिशील बनाए रखने में यद्यपि संतों की विभिन्न परंपराओं में आचार-विचार विषयक यत्किंचित मतभेद परिलक्षित होता रहा है, पर आत्म-कल्याण सबका लक्ष्य रहा है।

# अध्यात्म, स्तवन और भारतीय वाङ्मय

साध्वी पुण्ययशा

भारत देश विश्व शांति तथा मानवता का मार्ग बताने वाले महापुरुषों—राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध की भूमि रहा है। जिन्होंने समग्र संसार को शांति, नीति, ज्ञान और चारित्र आदि मानवीय मार्ग का सच्चा दर्शन दिया। अनादिकाल से ही यहां ज्ञान-विज्ञान की गवेषणा, अनुशीलन एवं अनुसंधान होता रहा है। विश्व सभ्यता के इतिहास में अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक परंपराओं एवं आध्यात्मिक चिंतन धाराओं के लिए भारत प्रसिद्ध रहा है।

काल-चक्र के प्रवाह में विश्व-पटल पर अनेक संस्कृतियां एवं विचारधाराएं उभरीं और विलुप्त हुईं, पर भारत की महान सांस्कृतिक परंपराएं अपने आध्यात्मिक वैभव को संजोए हुए अविच्छिन्न रूप में आज तक चली आ रही हैं। इन गौरवपूर्ण परंपराओं को सजीव, गतिशील एवं चेतना संपन्न बनाए रखने में यहां के ऋषि-मुनियों, संतों व आचार्यों का विशेष मार्ग-दर्शन रहा है। चूंकि तीर्थंकर, बुद्ध, गुरु, साधु-संत तथा महापुरुष स्वयं अनुशासन में ही रहते हैं, अतः दूसरों को भी अनुशासन की प्रेरणा व शिक्षा देते हैं और वह कारगर भी होती है।

अध्यात्म-संपदा की दृष्टि से संसार का कोई भी देश या राष्ट्र भारत की तुलना नहीं कर सकता। इसकी अपनी अनेक विशेषताएं हैं। विश्वभर में भारतीय संस्कृति बेजोड़, अद्वितीय व असाधारण मानी जाती है। इस भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक सबल व श्रेष्ठ पहलू है—नमन की संस्कृति।

## सत्यं शिवं सुंदरम्

भारत अवतारों की जन्म-भूमि, संतों की पुण्यभूमि, योगियों की योगभूमि, वीरों की कर्मभूमि और विचारकों की आधारभूमि रहा है। इस धरा के कण-कण में सौरभ, सुषमा, सौंदर्य एवं संगीत के स्वर हैं। आत्मा में ममत्व, माधुर्य तथा आकर्षण है और संस्कृति में वैभव, वीरता,

त्याग एवं बलिदान का सौष्ठव है। सचमुच भारत अमृत-कुंभ है। इसे अहिंसा व सत्य का महाकुंभ कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। संक्षेप में कहें तो भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता हिमालय के समान ऊंची, विशाल और अडिग रही है। यह भूमि महासागर के समान समृद्ध तथा पृथ्वी के समान गंभीर और प्राचीन है। महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर के **'सत्यं शिवं सुंदरम्'**—जिसका लक्ष्य सच्चिदानंद रहा है—भारतीय संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, धर्म, समाज और दर्शन का प्राण हैं।

यहां अनेक समाज-रत्न, नर-रत्न, धर्म-रत्न, राष्ट्र-रत्न और देश-भक्त पैदा हुए हैं। जिन्होंने मानव-मन की शुष्क धरा पर स्नेह की सुर-सरिता प्रवाहित की है तथा जन-मन में संयम और तप की ज्योति जलाई है। अपनी साधना, तप-त्याग व पुरुषार्थ के बल पर उन्होंने मानवता के अनेक कार्य किए हैं और अध्यात्म का पथ प्रदर्शित किया है तथा स्व-पर का कल्याण किया है। पुष्प की सुरभि, चंद्रमा की शीतलता एवं सूर्य का प्रकाश और तेज यद्यपि उनके साथ ही बंधे रहते हैं। महापुरुषों के गुण-सुवास, सौम्य-स्वभाव और ज्ञान का प्रकाश उनके साथ तो रहते ही हैं, पर जब वे महापुरुष अपनी साधना व कर्तव्य का पालन करते हुए इस धरती से चले जाते हैं, तब भी उनके असाधारण गुण युगों-युगों तक संसार को सुवासित और प्रकाशित करते रहते हैं।

भारत सदैव त्याग और वैराग्य का केंद्र स्थल रहा है। आज तक जो भी विभूतियां संसार में पूजनीय, वंदनीय एवं स्मरणीय बनी हैं, उनके जीवन में नैसर्गिक अध्यात्मवाद कूट-कूट कर भरा रहा है। निस्संदेह भौतिक-विज्ञान की अपेक्षा आत्म-विज्ञान कहीं अधिक सूक्ष्म, गहन और कल्याणकारी है। यह सदा-सर्वदा हितकर और मंगलप्रद रहा है। इसमें कभी, कहीं, किसी तरह के अहित की संभावना नहीं रहती है। मानव विकास की चरम परिणति भौतिकवादी अभ्युत्थान में नहीं, वरन आध्यात्मिक गतिशीलता और आत्म-कल्याण में ही है। कहा भी है—

**संत ग्रंथ अरु पंथ सब, बात बतावत तीन।**
**हृदय हरि दिल में दया, तन सेवा में लीन।।**

आध्यात्मिक स्फुरणा को सतत गतिशील बनाए रखने में यद्यपि संतों की विभिन्न परंपराओं में आचार-विचार विषयक यत्किंचित मतभेद परिलक्षित होता रहा है, पर आत्म-कल्याण सबका लक्ष्य रहा है। इसकी साक्षी में निम्नोक्त पंक्तियां मननीय एवं स्मरणीय हैं—

**मान धाम धन नारि सुत, इनमें जो न असक्त।**
**परमहंस तहि मानिए, घर बैठे ही विरक्त।**

भारत जहां हिंदू, बौद्ध और जैन—इन प्रमुख धर्म-मान्यताओं का जन्म-स्थल रहा है, वहीं इसकी समन्वयात्मक विशेषता ने इस्लाम, ईसाइयत आदि अन्य कई मान्यताओं को भी स्थान दिया है। अनेक धर्म-संप्रदाय, विभिन्न भाषा, रीति-रिवाज, पहनावा आदि के बावजूद इस देश की एकता, अखंडता एक विशेष पहचान रहे हैं।

## रहस्यमय हैं सब धर्मों के प्रतीक

विभिन्न संप्रदायों की पहचान के अलग-अलग माध्यम हैं। जैसे चोटी, जनेऊ, दाढ़ी, केश, 'क्रॉस'। ये मात्र धार्मिक परंपराओं को ही अभिव्यक्त करने वाले हैं, न कि आदमी को आदमी से अलग-अलग करने वाले। इन सब धर्मों के ये प्रतीक भी बहुत रहस्यमय हैं। यदि इन रहस्यों को समझकर धर्म की आराधना की जाए तो व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक संबंधों में आमूल-चूल परिवर्तन घटित हो सकता है।

जैसे—जनेऊ के तीन धागे ही लें। ये अज्ञान, अन्याय तथा अभाव के विरुद्ध संकल्पबद्ध होकर संघर्ष करने के प्रतीक हैं। ये ईश्वर, जीव और प्रकृति के रूप हैं। ये मन, वाणी और शरीर को अनुशासन के सूत्र में पिरोए रखने का निर्देश देते हैं। इसी तरह ईसाई धर्म का 'क्रॉस' सत्य के लिए सूली पर चढ़ कर आत्मोत्सर्ग की भावना का द्योतक है। इस्लाम का हरा रंग व उगता हुआ चांद नई उत्पत्ति, विकास व काल-गणना का प्रतीक है। सिक्ख धर्म के पांच ककार—केश, कड़ा, कंघा, कच्छा और कटार भी शौर्य, शुचिता तथा अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के संकल्प का प्रतीक हैं।

जैन धर्म का प्रतीक संपूर्ण जीव-जगत को अहिंसा, मैत्री, अभयदान देने तथा 'परस्परोपग्रहो' का संदेश देता है। जैन प्रतीक में स्वस्तिक को त्रिलोक के आकार में, पुरुषाकार में अपनाया गया है, जिसका जैन-शासन में महत्त्वपूर्ण

स्थान है। स्वस्तिक चिह्न सर्वथा मंगलकारी है। स्वस्तिक में ऊपर तीन बिंदु त्रिरत्न के द्योतक हैं। जो सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र को दर्शाते हैं। त्रिरत्न के ऊपर अर्द्धचंद्र सिद्धशिला को दर्शाता है। स्वस्तिक के नीचे जो हाथ दर्शाया गया है, वह संसारी जीवों को जन्म, जरा और मरण के भय तथा दुखों के कारणों से दूर कर अभय का आश्वासन देता है। अभयहस्त के बीच में जो चक्र दर्शाया गया है, वह अहिंसा का धर्मचक्र है। चक्र के बीच में 'अहिंसा' शब्द लिखा हुआ है। वह धर्म का केंद्र-बिंदु होने के आशय को दर्शाता है। चक्र के चौबीस 'आरे' समय (काल) के चक्र के 'आरे' के रूप में हैं। ये 'आरे' अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के काल-चक्र को सूचित करते हैं एवं स्याद्वाद और अनेकांतवाद की सूक्ष्म दृष्टियों से वस्तु के हर पहलू को समझने और तदनुरूप आचरण करने का संदेश देते हैं। प्रतीक के नीचे संस्कृत वाक्य 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अंकित है। यह भारतीय संस्कृति का मूल केंद्र-बिंदु और जैन परंपरा का ज्वलंत सूत्र है। इसका तात्पर्य है—जीवन में परस्पर उपकार, सहकार व सहयोग करना। यह सूत्र युगों-युगों से संपूर्ण मानव जगत को शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और पंचशील सिद्धांत को मानने तथा उस पर अमल करने की प्रेरणा देता रहा है और आज भी दे रहा है।

**धर्मों के प्रतीक चिह्न**

ईसाई धर्म का क्रॉस

इस्लाम धर्म का उगता चांद तथा शुभ संख्या

सिक्ख धर्म के पांच ककार केश, कड़ा, कंघा, कच्छा, कटार

जैन धर्म का प्रतीक लोक के आकार में अभयहस्त, स्वस्तिक और सिद्धशिला

बौद्ध धर्म का धर्मचक्र

वस्तुतः धर्म शास्त्रों एवं धर्म प्रणेताओं की यह पवित्र दृष्टि ही धर्म के मूल तत्त्वों—सत्य, न्याय, करुणा, क्षमा, उदारता, संवेदनशीलता एवं आत्म-संयम को जन्म देती है।

## स्तुति का वैविध्य

भारत की सभी अध्यात्मवादी परंपराएं आत्म-साधना की प्रबल प्रेरणा प्रदान करती है। धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सभी शास्त्रों में 'मानव-भव' को अमूल्य बताया गया है। जैनों के उत्तराध्ययन, बौद्धों के धम्मपद, शंकराचार्य के विवेक-चूड़ामणि, मुस्लिमों के कुरान, वैदिकों के वेद-उपनिषद्, वैष्णवों के रामायण-महाभारत, ईसाइयों के बाइबिल, सिक्खों के गुरुग्रंथ साहिब, पारसियों के अवेस्ता और आर्य समाज के सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रंथों में 'मानव-भव' को दुर्लभ बताकर मानवता की प्रेरणा दी गई है। रामचरितमानस में गोस्वामी संत तुलसीदास ने भी इसी सत्य को दर्शाया है—

**बड़े भाग मानुष तन पावा।**
**सुर दुर्लभ सब ग्रंथहि गावा।।**

निश्चय ही मोक्ष प्राप्ति का साधन यह मानव तन ही है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु विविध प्रकार की आराधनाएं, अभ्यास-पद्धतियां एवं स्तुतियां उपलब्ध हैं। अपनी विवेकशीलता, न्यायप्रियता, सहिष्णुता, वीरता, त्याग एवं परोपकारिता आदि गुणों के कारण ही आज राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, जीसस, मुहम्मद, गुरु नानक इत्यादि महापुरुष भारतीय संस्कृति में स्तुत्य रहे हैं। तुलसीदासजी ने यथार्थ ही कहा है—

**संत समागम हरि कथा, तुलसी दुरलभ दोय।**
**धन, यौवन, सुत, नारि, गृह ये तो जग के होय।।**

रामायण में हनुमान की महिमा भगवान राम के एक वीर आज्ञाकारी के रूप में की गई है। लाखों भारतीय श्रीराम और उनके प्रिय हनुमान की पूजा करते हैं, स्तुति करते हैं। वैदिक परंपरा में वंदन को सद्गुण की वृद्धि हेतु आवश्यक माना है।[1] इस परंपरा में संध्या-वंदन का विधान है। यह धार्मिक अनुष्ठान सुबह-शाम दोनों समय किया जाता है। इस संध्या में विष्णु-मंत्र का जल शरीर पर छिड़क कर शरीर को पवित्र बनाने का विधान है। श्रीमद्भागवत् में नवधाभक्ति का उल्लेख है।[2] इस नवधाभक्ति में वंदन भी भक्ति का एक प्रकार बताया गया है। श्रीमद्भागवत्

गीता के अठारहवें अध्याय में **'मा नमस्कुरु'** कह कर श्रीकृष्ण ने वंदन के लिए भक्तों को उत्प्रेरित किया है।[3] इस्लाम धर्म में प्रतिदिन पांच बार नमाज पढ़ कर अल्लाह की स्तुति की जाती है। पारसी-जरस्थु धर्म में—'नेक मनश्नी', 'नेक ग्वश्नी', 'नेक कुनश्नी'—अर्थात् पवित्र विचार, पवित्र वचन और पवित्र कर्म पर बल दिया गया है। गुरु नानक के काव्य में निर्गुण उपासना का बाहुल्य है। उन्होंने जप एवं सुमिरन के द्वारा भक्तों को मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश दिया। सिक्ख धर्म में 'गुरुग्रंथ साहिब' की स्तुति गौरव के साथ की जाती है। जैन धर्म में 'पंच-परमेष्ठी' की स्तुति व वंदना अपना वरेण्य स्थान रखती है। जैनों के 'आवश्यक-सूत्र' में 'छह-आवश्यकों' (अवश्य करणीय कर्तव्यों) के उल्लेख में दूसरा 'चतुर्विंशति स्तव आवश्यक' और तीसरा 'वंदन आवश्यक' भक्ति व स्तुति स्वरूप ही है। भगवान महावीर ने 'पंच-परमेष्ठी' वंदन को नीच-गोत्र कर्म के क्षय का और उच्च-गोत्र कर्म के अर्जन का कारण माना है।[4] जैन शास्त्रों में वंदना के विशेष प्रसंगों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

**पडिक्कमणे सज्झाए, काउसग्गावराहपाहुणए।**
**आलोयण संवरणे, उत्तमट्ठे य वंदणय।।[5]**

## वंदना के प्रकार

जैन मतानुसार वंदना के विशेष प्रसंग और उसकी विधि का उल्लेख है। जैसे—● प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग के समय। ● आशातना, विराधना होने पर। ● ज्येष्ठ अतिथि-साधु के आगमन पर। ● आलोचना-प्रत्याख्यान और अनशन के समय। वंदना तीन बार दाईं से बाईं ओर प्रदक्षिणा पूर्वक 'तिक्खुतो' पाठ से की जाती है। प्रदक्षिणा का तात्पर्य है—हाथ जोड़ कर बाईं से दाईं ओर पूर्ण आवर्त्त कर हाथों को ललाट तक ले जाना। यह एक प्रदक्षिणा होती है।

इसी प्रकार वैदिक परंपरा में मंदिरों में आरती की जाती है। आरती का अभिप्राय है—तीन महाशक्तियों (ब्रह्मा, विष्णु व महेश) को क्रमशः नमस्कार करना।

जैन परंपरा में यह रत्नत्रय—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का प्रतीक है। वंदना के माध्यम से वंदनीय के सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र को वंदना की जाती है।

भारतीय संस्कृति में संत परंपरा की ओर दृष्टिपात करते हैं तो संत तुलसीदास ने रामचरितमानस के माध्यम से 'सियाराममय' हो जाने का उद्‌बोधन किया है। उन्होंने राममय होकर जिस कृति की रचना की, वह संसार में 'रामायण' के नाम से अमर भक्तिकाव्य बन गया। सूरदास ने कृष्णमय होकर जिन गीतों, पदों व भजनों का मधुर स्वर से संगान किया वह ग्रंथ 'सूर-सागर' सगुण भक्तिरस का क्षीरसागर बन गया। संत कबीर के काव्य में वेदांत का अद्वैत, नाथों का हठयोग, सिद्धों की सहज-साधना और इस्लाम का एकेश्वरवाद—सबकुछ घुला-मिला है। इस अर्थ में वे समन्वित-साधना के संत कवि माने जा सकते हैं। वे निर्गुण-भक्ति, ज्ञानाश्रयी शाखा के हामी थे। उन्होंने नाम सुमिरन की महिमा का संगान करते हुए कहा—

**सुमिरन कर ले, नाम सुमिर ले, को जाने कल की।**
**जगत में खबर नहीं पल की।।**
**काम क्रोध मद लोभ निवारों, बात यह असल्ल की।**
**ज्ञान वैराग दया मन राखों, कहे कबीर दिल की।।[6]**

नाम-सुमिरन की मधुरिमा का आदर्श नारद, हनुमान, अंबरीष, प्रह्लाद, सूरदास, त्यागराज, मीरा, तुकाराम, तुलसीदास, कबीर, भद्राचल, रामदास सहित बहुत से संतों, कवियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। रहीम, मीरा, जायसी, दादू, रैदास आदि ने संत साहित्य की परंपरा में पथ-प्रदर्शन के रूप में भगवत्प्राप्ति हेतु जिन साधनों का वर्णन किया है, उनमें से पांच साधन प्रमुख हैं—● भगवन्नाम का निरंतर जप ● भगवन्नाम के साथ अनन्य संबंध ● भगवत्कृपा पर अटल-विश्वास ● सर्वत्र भगवत्दर्शन और ● संपूर्ण कामनाओं का त्याग।

यद्यपि जैन संत परंपरा में साधना के जो तीन मार्ग हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र—उनमें स्तुति या भक्ति का सीधा निर्देश परिलक्षित नहीं होता है, पर इस त्रिवेणी में शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव की जो बात आती है, वह भक्ति आध्यात्मिक चेतना का ही स्फुरण है। वह चारित्र का एक अंग है। इसलिए जैन परंपरा में भक्ति के लिए अवकाश ही नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भगवान की उपासना, भक्ति व ध्यान आदि के लिए जैन शासन में 'स्तुति' शब्द

शेष पृष्ठ 52 पर

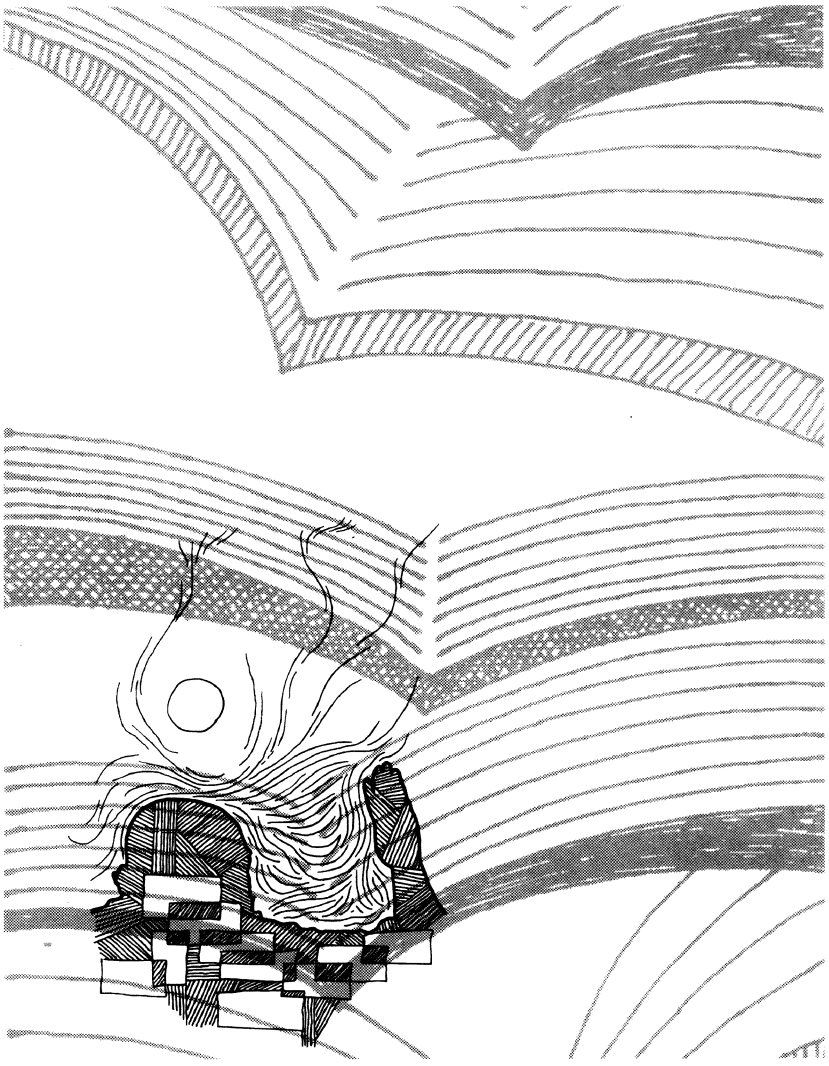

# अनुभूति

सामान्य नागरिक सतत डरा हुआ, दबा हुआ है। इसलिए यहां जनता है ही नहीं, लोगों का अभाव है। भीड़ यानी लोग नहीं। भीड़ की आत्मा तो होती ही नहीं। सिर होते हैं, 'मेरु' नहीं होता। भीड़ की छाती होती है, हृदय नहीं होता। भीड़ को इकट्ठा करने से आंदोलन होता है, लेकिन जिम्मेवारी नहीं आती है। सरकार की भी आज यही स्थिति है; सत्ता है, शक्ति नहीं है और जिम्मेवारी तो उससे भी कम है। नेताओं की भी यही स्थिति है। भारतवर्ष के इतिहास में गांधी ही एक ऐसा शख्स हुआ, जिसे लोगों के दरबार में भी कभी खुशामद करने की जरूरत नहीं पड़ी। इस परिस्थिति में हम राष्ट्र को बनाना चाहते हैं तो क्षुद्र अहंकार की अस्मिताएं जो देश में पनप रही हैं, उन पर रोक लगानी होगी। हम जमीन चाहते हैं, वहां का मनुष्य नहीं चाहते। जहां मनुष्य की चाह नहीं है, या मनुष्य गौण हो जाता है और जमीन मुख्य हो जाती है—वह साम्राज्यवाद है।

—दादा धर्माधिकारी

भावशुद्धि के द्वारा व्यक्ति वीतराग धर्म की साधना कर सकता है, आगे बढ़ सकता है और परलोक में भी धर्म की आराधना कर सकता है। शास्त्रकारों के द्वारा बहुत सुंदर बात कह दी गई कि भावशुद्धि के द्वारा व्यक्ति वर्तमान काल में तो धर्म की आराधना करता ही है, परलोक में भी उसके लिए धर्म की सुलभता हो सकती है। अतः मेरा यह दृढ़ मत है कि आदमी को अपने भविष्य के बारे में चिंतन करना चाहिए। हमारा वर्तमान जीवन सीमित है, इस जीवन के बाद हमारे सामने अनंतकाल का लंबा भविष्य है। इसलिए आदमी का वर्तमान सुंदर हो। वर्तमान की सुंदरता से ही भविष्य सुंदर बन सकता है।

# विकास का आधार : कथनी-करनी संगति और भावविशुद्धि

आचार्यश्री महाश्रमण

साधु के सत्ताईस गुण बताए गए हैं। उनमें एक है—भाव-सत्य, यानी भावधारा की निर्मलता। भाव-सत्य होने से भावों की शुद्धि हो जाती है। अध्यात्म की दृष्टि से विचार करें तो भाव-विशुद्धि से बड़ी दूसरी कोई भी चीज नहीं है। कोई आदमी शरीर से क्या करता है, वाणी से क्या बोलता है—ये सब ऊपरी बातें हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आदमी की भावना कैसी है? ऊपर से कठोर लगने वाला व्यक्ति यदि भीतर से शुद्ध है तो ऊपरी कठोरता विशेष नुकसानदाई नहीं हो सकती है। जिसका हृदय निर्मल है, जो सज्जन है, हितैषी है—उसकी कटु बात भी कल्याणकारी हो सकती है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

**न भवति भवति च न चिरं,**
**भवति चिरं चेत्फले विसंवादी।**
**कोपः सत्पुरुषाणां, तुल्यः स्नेहेन नीचानाम्।।**

सज्जन आदमी कभी गुस्सा भी कर सकता है, कभी कठोरता से भी कह सकता है, किंतु उसके मन में वह गुस्सा या कठोरता ज्यादा समय तक नहीं रहती। उसकी कटु बात भी अच्छा फल देने वाली हो सकती है। कहा भी जाता है कि सज्जन व्यक्तियों का तो गुस्सा भी अच्छा है, किंतु दुर्जन व्यक्तियों का स्नेह भी खराब होता है।

इसी तरह उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में एक प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। प्रश्न किया गया—**'भावसच्चेणंभंते! जीवे किं जणयइ?**—भंते! भाव-सत्य से जीव क्या प्राप्त करता है?'—उत्तर दिया गया—**'भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहंतपण्णंत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए हवइ**—भाव-सत्य से जीव भाव विशोधि को

उत्पन्न करता है। भाव विशोधि में वर्तमान जीव अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए अभ्युत्थान करता है। अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए अभ्युत्थित होकर परलोक धर्म की आराधना करने वाला बन जाता है।'

जिसकी अंतःचेतना में सचाई है, शुद्धता है, छलना-वंचना नहीं है—उसका भाव सदा शुद्ध रहता है। भाव-शुद्धि रहेगी तो कल्याण भी निश्चित होगा। भाव अशुद्ध हैं, तो ऊपर से भले कुछ भी कर लें—कल्याण नहीं हो सकता। अतः हर आदमी यह ध्यान दे कि मेरे मन में कोई गलत विचार न आए, कोई विकार न आए। कहा भी गया है—

**यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।**

जिसकी जैसी भावना होती है, उसके अनुसार निष्पत्ति, सिद्धि प्राप्त हो जाती है। एक आदमी ऊपर से मीठा बोल कर मधुर व्यवहार दिखाता है और भीतर में कपट रखता है, तो उसका मीठा बोलना या मधुर व्यवहार खतरनाक हो सकता है। जिसकी भावना खराब है, उसको कभी भी अच्छा फल नहीं मिल सकता। आचार्य सोमप्रभसूरि ने सूक्ति मुक्तावली ग्रंथ में कहा है—

**नीरागे तरुणीकटाक्षितमिव त्यागव्यपेतप्रभोः,**
**सेवाकष्टमिवोपरोपणमिवाम्भोजन्मनामश्मनि।**
**विश्वग्वर्षमिवोषरक्षिति तले दानार्हदर्चातपः,**
**स्वाध्यायाध्ययनादि निष्फलमनुष्ठानं विना भावनाम्।।**

शुभ भावना के बिना दिया गया दान, अर्हतों की अर्चना, तप, स्वाध्याय तथा अध्ययन आदि अनुष्ठान वैसे ही निष्फल होते हैं, राग रहित पुरुष के प्रति तरुणियों का कटाक्ष, कुछ पाने के लिए दानवियुक्त यानी कृपण की सेवा, पाषाण पर कमल का उपरोपण और बंजर भूमि पर बरसने वाली वर्षा जैसे फलदायी नहीं होती है, वैसे ही शुभ भावना के अभाव में होने वाला सत्कार्य भी असरहीन हो सकता है।

भावना 'अंक' के समान है और अनुष्ठान 'शून्य' के समान है। भावना के साथ अनुष्ठान किया जाए तो अच्छा फल मिल सकता है। अंक के आगे भी शून्य लगाने से वह संख्या बढ़ती जाती है, पर केवल शून्य का कोई मूल्य नहीं होता। उसी तरह शुद्ध भावना के बिना अनुष्ठान का विशेष फल नहीं मिल पाता। इसलिए भावना शुद्ध हो, यह प्रयास होना चाहिए।

भावशुद्धि के द्वारा व्यक्ति वीतराग धर्म की साधना कर सकता है, आगे बढ़ सकता है और परलोक में भी धर्म की आराधना कर सकता है। शास्त्रकारों के द्वारा बहुत सुंदर बात कह दी गई कि भावशुद्धि के द्वारा व्यक्ति वर्तमान काल में तो धर्म की आराधना करता ही है, परलोक में भी उसके लिए धर्म की सुलभता हो सकती है। अतः मेरा यह दृढ़ मत है कि आदमी को अपने भविष्य के बारे में चिंतन करना चाहिए। हमारा वर्तमान जीवन सीमित है, इस जीवन के बाद हमारे सामने अनंतकाल का लंबा भविष्य है। इसलिए आदमी का वर्तमान सुंदर हो। वर्तमान की सुंदरता से ही भविष्य सुंदर बन सकता है।

अध्यात्म की साधना में भावशुद्धि मूल कसौटी है। ऊपर से किसने क्या किया? यह बात गौण है और भीतर यानी भावों की बात मुख्य है। श्रीमद्भगवद्गीता में सुंदर कहा गया है—

**कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।**
**इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।**

श्रीकृष्ण कहते हैं कि एक आदमी कर्मेंद्रियों का ऊपर से संयम करता है, किंतु मन में विषय-वासना चलती रहती है, तो वह आदमी मिथ्याचारी है।

**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेअर्जुन।**
**कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।**

हे अर्जुन! जो व्यक्ति मन से अपनी इंद्रियों का नियमन करता है, मन से शुद्ध हो जाता है, वह वास्तव में अनासक्त है, त्यागी है। एक संत, जो भावों से भी अनासक्त रहता है और उपर से भी त्याग रखता है—वह वास्तव में संन्यासी है। अन्यथा वेश से संन्यासी हो सकता है, पर क्लेशों से तो वह वासनावासी बना हुआ ही रहता है। अतः आदमी यह निरीक्षण, परीक्षण और समीक्षण करता रहे कि मेरी भावना कैसी है? यह चिंतन करता रहे कि दिन-रात मेरे भाव शुद्ध रहें, भावों में कहीं विकार न आ जाए, गलत विचार न आ जाए। यदि इस बात का ध्यान रखा जाता है, तो उसके लिए वह राजपथ तैयार है जो उसे सीधा मोक्ष तक ले जा सकता है। यदि

भाव अशुद्ध हैं, तो राजपथ की बात तो दूर, वह संकड़ी गलियों में भटका सकता है और मंजिल से बहुत दूर जा सकता है।

शास्त्रकारों ने बहुत सुंदर कहा है कि भाव-सत्य के द्वारा भाव विशोधि प्राप्त होती है। भावशुद्धि में रहने वाला जीव अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए अभ्युत्थान कर परलोक में भी धर्म की आराधना करने वाला बन जाता है।

भाव-सत्य की ही तरह करण-सत्य का उल्लेख भी हमारे आगम-शास्त्रों में मिलता है। आर्हत वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में एक प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। प्रश्न किया गया—**'करणसच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! करण-सत्य से जीव क्या निष्पन्न करता है?'—उत्तर दिया गया—**'करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ**—करण-सत्य से करण-शक्ति को पैदा किया जाता है और करण-सत्य में वर्तमान जीव यथावादी, तथाकारी बन जाता है।'

आदमी प्रवृत्ति करता है, पर उस प्रवृत्ति में सचाई रहे और जिस कार्य को करने की जो विधि है—उसी सम्यक् विधि के अनुसार निष्ठापूर्वक कार्य किया जाए, यही करण-सत्य है। अविधि अथवा गलत कार्य करने की अपेक्षा कार्य नहीं करना ज्यादा अच्छा है।

अनेक लोग सामायिक की साधना करते हैं, यदि विधिपूर्वक सामायिक की जाए तो उसका लाभ है और यदि विधि से न की जाए तो कई बार नुकसान भी हो सकता है। सामायिक लेने का पाठ ठीक तरह बोला जाए, अतिचारों की आलोचना अच्छी तरह की जाए, सामायिक के एक मुहूर्त के समय का सम्यक्तया उपयोग किया जाए। उसमें स्वाध्याय, ध्यान, जप, तत्त्वज्ञान, धर्मकथा आदि किए जाएं, तो सामायिक का अच्छा फल मिल सकता है।

सामायिक छह कोटि, आठ कोटि और नव कोटि की भी हो सकती है। मात्र सामायिक ही नहीं, कोई भी कार्य हो—चाहे सांसारिक हो या धार्मिक—सब विधिपूर्वक ही शोभित होते हैं। अविधि से किया जाने वाला कार्य कभी भी अच्छा नहीं लग सकता।

हर आदमी के मन में कार्य करने की ललक होती है, पर किसी भी कार्य को सम्यक्तया संपादित करने के लिए पहले योजना बनानी चाहिए। हर योजना अपने सामर्थ्य के अनुरूप होनी चाहिए। योजना बनाने में भावुक नहीं बनना चाहिए, अपितु यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर ही योजना बनानी चाहिए। जो सूझ-बूझ के साथ परिणामदायी कार्य को हाथ में लेता है, वही सफल हो सकता है। इस प्रकार करण-सत्य से वह करण-शक्ति को निष्पन्न कर लेता है। जो विधिपूर्वक कार्य करने का रुझान रखता है, उसमें कार्य करने की शक्ति बढ़ जाती है और अनुभव भी बढ़ जाता है।

आदमी में मनोबल होना चाहिए, दृढ़ निश्चय होना चाहिए, आत्मविश्वास होना चाहिए। जब आत्म-विश्वास के साथ कार्य किया जाता है, तभी करण-शक्ति का सम्यक् उपयोग होता है और तभी करण-शक्ति बढ़ सकती है। आदमी की करण-शक्ति इतनी मजबूत हो कि वह किसी के बहकावे में न आए। दूसरों की बातों को सुना तो जा सकता है, किंतु निर्णय अपने विवेक से, अपने दिमाग से चिंतन करके ही किया जाना चाहिए। अपने विवेक से कार्य करने से ही करण-शक्ति पुष्ट हो सकती है।

इसीलिए शास्त्रकार ने सुंदर ही कहा है कि करण-सत्य में वर्तमान जीव यथावादी तथाकारी हो जाता है। वह जैसा कहता है, वैसा ही कार्य करता है। उसकी कथनी-करनी में संगति रहती है। जो व्यक्ति कहता कुछ और करता कुछ है—वह करण-सत्य से दूर हो जाता है।

जहां कथनी-करनी में विसंगति हो जाती है, वहां आदमी अध्यात्म से भी दूर हो जाता है और नैतिकता से भी दूर चला जाता है। ऐसी स्थिति में लोगों के मन में उसके प्रति अश्रद्धा का भाव, अविश्वास का भाव पैदा हो जाता है। इसलिए आदमी अपनी शक्ति को तौले कि मेरे भीतर कितनी शक्ति है। फिर अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य को हाथ में ले। प्रामाणिकता से कार्य करने वाला व्यक्ति कार्य करने की शक्ति का विकास कर लेता है और यथावादी तथाकारी बन जाता है। ❖

**पावन जन्मोत्सव : अभिवंदना**
**□ वैशाख शुक्ला नवमी □**
**12 मई**

*जो सम्यक् दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता है, उसका ज्ञान भी सम्यक् नहीं हो सकता। सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र के गुण का विकास नहीं हो सकता। उसके अभाव में मोक्ष और निर्वाण भी संभव नहीं है। दर्शनाचार की साधना से ही मिथ्यात्व आश्रव का निरोध तथा सम्यक्त्व संवर की प्राप्ति होती है। प्राचीन आचार्यों की भाषा में सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र और तप की जितनी क्रियाएं हैं, वे बिना अंक के शून्य के समान हैं। जिन लोगों की जिनवाणी और उस परंपरा के प्रति श्रद्धा दुर्बल है, आचार्यश्री महाश्रमणजी उन्हें स्थिर करने में सदा अपना श्रम नियोजित करते हैं।*

# आचार्यश्री महाश्रमण : नौ निन्हवेऽज्जवीरियं

मुनि राकेशकुमार

स्थानांग सूत्र में पांच प्रकार के आचार बताए गए हैं। कहा गया है—**पंचविहे आयारे पण्णत्ते, नाणायारे, दंसणायारे, चारित्तायारे, तवायारे वीरियायारे**—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। आध्यात्मिक विकास के लिए इन पांच आचारों की साधना आवश्यक है। ज्ञान से सत्य-तत्त्व का बोध होता है। दर्शन से उसके प्रति श्रद्धा होती है। दर्शन और ज्ञान का गहरा संबंध है। सम्यक् दर्शन से ही सम्यक् ज्ञान का विकास हो सकता है। चारित्राचार का तात्पर्य है—ज्ञात तत्त्व का आचरण करना। यह संवर धर्म का रूप है। इससे नए कर्मों का बंधन रुक जाता है। तपाचार की साधना से पूर्व संचित कर्मबंधनों का निर्जरण होता है। ज्ञान आदि चारों आचारों के छत्तीस भेद होते हैं। उनकी साधना-आराधना तथा सेवा-स्वाध्याय में अपनी शक्ति का नियोजन करना वीर्याचार है। आचार्यश्री महाश्रमणजी के जीवन में इन्हीं पंचाचारों की साधना का सजीव दर्शन होता है। वे अप्रमत्त योगी हैं। उनके पचासवें वर्ष में प्रवेश के उपलक्ष्य में आयोजित अमृत महोत्सव के अवसर पर हमें पंचाचार की साधना का विकास करना चाहिए। साथ ही दूसरों को इसकी प्रेरणा भी देना चाहिए।

## ज्ञानाचार

ज्ञानाचार की साधना में आचार्यश्री महाश्रमणजी प्रारंभ से ही जागरूक और संलग्न रहे हैं। उन्होंने मुमुक्षु अवस्था में भी पच्चीस-बोल, तेरह-द्वार, बासठिया, बावन-बोल, गतागत, लघुदंडक तथा गमा आदि अनेक स्तोककृत (थोकड़े) कंठस्थ कर लिए थे। इसी के साथ उनका प्रारंभिक अर्थ भी हृदयंगम कर लिया था। आगम साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन में उनकी विशेष रुचि रही है। उनके सान्निध्य में जब आगम बत्तीसी का पारायण हुआ तो अनेक स्वाध्यायशील साधुओं ने इसमें भाग लिया। तेरापंथ धर्मसंघ में आगम साहित्य के संपादन और विवेचन का जो कार्य हुआ है या हो रहा है—उसमें उनका बहुमूल्य योगदान है। काल, विनय, बहुमान आदि ज्ञानाचार के सभी प्रकारों की आप जागरूकता से आराधना करते हैं। आज समाज में ज्ञान संपदा का

विविधमुखी विस्तार हो रहा है, पर उसके साथ विनय का संस्कार शिथिल हो रहा है। आचार्यश्री महाश्रमणजी के जीवन में विनयशीलता का नैसर्गिक संस्कार है। जिन व्यक्तियों से आपको स्वल्प ज्ञान भी प्राप्त हुआ है, उनके प्रति भी आपके मानस में कृतज्ञता का भाव रहता है।

आचार्यश्री महाश्रमणजी के दैनिक प्रवचन तत्त्वज्ञान से ओतप्रोत होते हैं। श्रावक समाज में उस ज्ञान की वृद्धि हो, यह आपका सतत लक्ष्य रहता है। ज्ञान के विकास के लिए ध्रुवयोगी होना जरूरी है। गुरुदेवश्री तुलसी ने आपको अनेक प्रसंगों पर 'ध्रुवयोगी विशेषण' से संबोधित किया था। आपने थोड़े समय में ही विविध भाषाओं और अनेक विषयों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया।

## दर्शनाचार

आचार्यश्री महाश्रमणजी वीतराग वाणी के परम उपासक हैं। वीतरागता की साधना में आप निरंतर प्रवर्धमान हैं। बावीस परीषहों में एक दर्शन परीषह है। मेरे मन में कई वर्षों तक यह जिज्ञासा रही कि दर्शन परीषह का क्या मतलब है? इसमें भूख-प्यास व सर्दी-गर्मी आदि की तरह कुछ भी सहन नहीं करना पड़ता। आज के युग में जहां नाना-प्रकार के विचारों और मतवादों का तुमुलनाद सुनाई देता है, वहां दर्शन परीषह की महत्ता और उपयोगिता सहज समझ-में आ जाती है। बाहर के चमत्कारों के मायाजाल से जिसकी दृष्टि मूढ़ हो जाती है, वह दर्शन परीषह को जीतने में तथा दर्शनाचार का पालन करने में सफल नहीं हो सकता। निःशंकित, निःकांक्षित व निर्विचिकित्सा आदि दर्शनाचार के आठ प्रकारों को सम्यक् प्रकार से समझने से ही दर्शनाचार की आराधना हो सकती है।

आगम वाणी के अनुसार पांचों आचारों में दर्शनाचार की साधना का महत्त्व सबसे अधिक है।

**नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।**
**अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।**

*(उत्तराध्ययन)*

जो सम्यक् दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता है, उसका ज्ञान भी सम्यक् नहीं हो सकता। सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र के गुण का विकास नहीं हो सकता। उसके अभाव में मोक्ष और निर्वाण भी संभव नहीं है। दर्शनाचार की साधना से ही मिथ्यात्व आश्रव का निरोध तथा सम्यक्त्व संवर की प्राप्ति होती है। प्राचीन आचार्यों की भाषा में सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र और तप की जितनी क्रियाएं हैं, वे बिना अंक के शून्य के समान हैं। जिन लोगों की जिनवाणी और उस परंपरा के प्रति श्रद्धा दुर्बल है, आचार्यश्री महाश्रमणजी उन्हें स्थिर करने में सदा अपना श्रम नियोजित करते हैं। उनके परिवारों को भी सान्निध्य प्रदान कर उनके सम्यक् दर्शन को भी पुष्ट करते हैं।

## चारित्राचार

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह—ये पांच महाव्रत चारित्राचार के मूल आधार हैं। इनकी विशुद्ध साधना के लिए पांच समिति और तीन गुप्ति की आराधना का विधान है। इनको आठ प्रवचन माता कहा जाता है। दीक्षित होने के थोड़े समय बाद मुझे साध्वीप्रमुखाश्री लाड़ाजी ने अचानक पूछा—'साधु के मां कितनी होती हैं?'—यह प्रश्न सुन कर एक बार मैं विस्मित-सा हो गया, पर मुझे तत्काल गुरुदेवश्री तुलसी द्वारा निर्मित गीतिका का एक पद्य याद आ गया। उसके आधार पर मैंने कहा—'पांच समिति और तीन गुप्ति, ये साधु की आठ माताएं हैं।'—यह उत्तर सुन कर वे बहुत प्रसन्न हुईं। आचार्यश्री महाश्रमणजी के हर व्यवहार में भाव-क्रिया की साधना परिलक्षित होती है। वे अपने स्वीकृत आदर्शों के प्रति जागरूक और समर्पित हैं। गुरुदेवश्री तुलसी ने कहा था—'साधु हो तो महाश्रमण जैसा हो।'—उनके जीवन को देख कर निम्न संस्कृत श्लोक का स्मरण हो जाता है—

**यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रिया,**
**धन्यास्ते त्रितये येषां, विसंवादो न विद्यते।।**

वे धन्य हैं, जिनके जीवन में मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति में एकरूपता है, उसमें किसी प्रकार का विसंवाद नहीं है। साधारणतया हर व्यक्ति पद-प्रतिष्ठा की दौड़ में लगा रहता है, पर आचार्यश्री महाश्रमणजी का जीवन इस विचारधारा से बिल्कुल भिन्न है।

## तपाचार

तप की साधना से पूर्व संचित कर्मों का निर्जरण होता है। तप के बारह भेद हैं। अपनी रुचि और शक्ति

के अनुसार तप के किसी भी भेद की आराधना हो सकती है। बारह भेदों में छह भेद बाह्य हैं और छह अभ्यंतर हैं। तपाचार की साधना के लिए सुविधावाद का त्याग जरूरी है। आचार्यश्री महाश्रमणजी सहज तपस्वी हैं। उनकी कष्ट-सहिष्णुता अद्भुत है। एक बार उन्होंने सिवांची मालाणी (बाड़मेर जिला) क्षेत्र की यात्रा की। वह यात्रा बहुत सफल रही। उस क्षेत्र के लोग बहुत प्रसन्न और प्रभावित हुए। जब यात्रा संपन्न कर उन्होंने गुरुदेवश्री के दर्शन किए तब वहां के प्रमुख श्रावकों ने यात्रा के सुखद समाचार सुनाए। गुरुदेव ने अपने भाषण में कहा—'इस सफल यात्रा के लिए मैं महाश्रमण को कुछ पुरस्कार देना चाहता हूं।'—यह सुनते ही सारी परिषद में नई जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। सब लोग आचार्यश्री की ओर देखने लगे। कुछ क्षणों पश्चात् जिज्ञासा का समाधान करते हुए गुरुदेवश्री ने कहा—'इस अवसर पर मैं महाश्रमण को एक निर्देश देता हूं कि यदि कोई भी तुम्हारे संबंध में सुविधावादी होने का आरोप लगाए तो तुम्हें खड़े-खड़े ध्यान करना होगा।'—महाश्रमणजी ने गुरुदेव के इस आदेश को प्रसन्नता से स्वीकार किया। पर, उन्हें एक बार भी उस रूप में ध्यान करने का अवसर नहीं मिला।

## वीर्याचार

आचार्यश्री महाश्रमणजी परम पुरुषार्थी हैं। **नो निन्हवेज्जवीरियं**—उन्होंने इस आगम वाणी को गहराई से आत्मसात किया है। वे धर्मसंघ की सेवा तथा समाज की सेवा में पूर्ण मनोयोग से संलग्न एवं समर्पित हैं। वे शक्तिसंपन्न और तेजःसंपन्न महापुरुष हैं। वे आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पांवों की बहुधा वैयावृत्य करते थे। एक बार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा—'महाश्रमण वैयावृत्य करता है, तब मेरे पांवों में झनझनाहट होती है। यह प्राणवान व्यक्तित्व का लक्षण है।'—गुरुदेवश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के सान्निध्य और मार्गदर्शन में उन्होंने संघ की आंतरिक व्यवस्था से संबंधित दायित्वों को निभाना शुरू कर दिया था और वर्तमान में विशाल संघ का सारा भार आपके कंधों पर है। मर्यादा महोत्सव के समय जब सैकड़ों साधु-साध्वी एकत्रित होते हैं, तब आपका श्रम अनिर्वचनीय होता है। संघ के सभी सदस्यों द्वारा गतवर्ष किए कार्यों का सिंहावलोकन तथा भविष्य के लिए दिशा-निर्देशन आप ही करते रहे हैं। संघ के हर सदस्य की समस्याओं को ध्यान से सुनते हैं तथा उनका समुचित समाधान कर उन्हें आश्वस्त करते हैं। श्रावक समाज में धार्मिक और नैतिक संस्कारों को जागृत करने के लिए आप निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं। सारे भारत से समय-समय पर सैकड़ों-हजारों दर्शनार्थी आपके सान्निध्य में पहुंचते रहते हैं। आप सबको आध्यात्मिक पाथेय प्रदान करते हैं तथा उनके जीवन में सद्-संस्कारों का सिंचन करते हैं। यह आपकी व्यस्त दिनचर्या का नियमित कार्यक्रम है। तभी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने उत्तराधिकारी महाश्रमणजी की कष्ट-सहिष्णुता और श्रमनिष्ठा से प्रभावित होकर उन्हें 'महातपस्वी' अलंकरण प्रदान किया था। इस संबोधन की घोषणा करते हुए उन्होंने कहा—'महाश्रमण का आहार संयम, इंद्रिय संयम, श्रमशीलता और सहनशीलता अनुत्तर है। इसलिए महाश्रमण महातपस्वी है।' ❖

---

## कृपया ध्यान दें

**जैन भारती** के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

सादगी के रत्न को धारण करने वाला जीवन में खुशियों को बटोर सकता है। क्योंकि उसके आचार में श्रेष्ठता है, विचारों में पवित्रता है और बुद्धि के साथ विनम्रता विद्यमान है। व्यवहार में सादगी का दर्शन स्वतः ही आकर्षित करता है। भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के पास धन-वैभव की कमी नहीं थी। फिर भी वे एक वस्त्र को धारण करके सबके लिए पूज्य व आकर्षण का केंद्र-बिंदु बन गए। अंतःसौंदर्य सदैव विचारों की निर्मलता से ही बढ़ता है और जब साधना का सौंदर्य टपकने लगता है, तो आभामंडल तेजस्वी बन जाता है।

# जीवन का सौंदर्य : पवित्रता; विनम्रता

साध्वी स्वर्णरेखा

जीवन का सफर बेशकीमती ढंग से विविधतापूर्ण रूप में गुजरे, यह आशा प्रत्येक मानव के मन में निवास करती है। अपनी शांति के लिए वह जीवन में अनेक रंगों से खेल खेलता है। कभी असत्य की कुंजी से मुफ्त की पूंजी प्राप्त करना चाहता है, तो कभी हिंसा के नारों को गुंजित करते हुए स्वयं आतंकवाद को बुलावा देता है और कभी प्रसन्नता के क्षणों को प्राप्त करने के लिए व्यसनों को ही अपना सखा बना लेता है। दो पटरियों पर चलने वाली इस जिंदगी के सफर में जीने के गुर कैसे सीखें—यह समझना जरूरी है।

दो अक्षरों की यात्रा करता हुआ 'जीना' शब्द यही कहता है कि उसका प्रत्येक क्षण शांति के साथ व्यतीत हो।

आज व्यक्ति जिस शांति को निमंत्रण दे रहा है, वह स्थायित्व को धारण करने वाली नहीं है। वह भौतिक सुख को ही शांति मानता है। संपन्नता सुविधा दे सकती है, परंतु शांति नहीं। शांति से जीने के लिए स्वयं को सरोवर एवं तरुवर बनना होगा, जो हर हाल में दूसरों को सुख-शांति की छाया एवं तृप्तिकारक मधुर जल, मधुर फल देते हैं। उसे पत्थर से कितना भी मारा जाए, असभ्य व्यक्तियों द्वारा उसे गंदा किया जाए—फिर भी वे अपनी माध्यस्थ वृत्ति से, सुख-दुख से, हर परिस्थिति का सत्कार करते हैं। दूसरी ओर प्रतिकूल परिस्थिति आते ही मनुष्य अपना संतुलन खो बैठता है।

यदि सही ढंग से जीना सीखना है तो अपने व्यक्तित्व को जुझारू बनाने की भावना भीतर में व्याप्त करनी होगी। जोश, उमंग, उत्साह से दुख के सियार भाग जाते हैं। अधिक रगड़ने से पत्थर में अग्नि उत्पन्न हो जाती है। खोदने पर पृथ्वी से जल निकल आता है, वैसे ही उत्साह-संपन्न व्यक्ति के लिए दुख कोई असाध्य वस्तु नहीं है। सुख व दुख व्यवस्थाओं से कम और वैचारिक तौर पर अधिक उत्पन्न होते हैं। रात गई, बात गई—इस सूत्र को साथी बना लेने से तनाव समीप भी नहीं आता। भगवदज्जुकीयम् ग्रंथ में लिखा है—

**अनागतं प्रार्थयतामतिक्रान्तं च शोचताम्।**
**वर्तमानैरतुष्टानां निर्वाणं नोपपद्यते।।**

जो अनागत है, उस भविष्य की कामना करते हुए, जो

व्यतीत हो गया, उसका शोक करते हुए और वर्तमान में असंतुष्ट व्यक्तियों को जीवन में कभी शांति नहीं मिलती।

इमर्सन ने कहा है—'व्ही फाइंड इन लाइफ एक्जेक्टली व्हाट व्ही पुट इंटू इट' (We find in life exactly what we put into it.)। हमें जिंदगी में वो ही मिलता है, जो हम चाहते हैं। जिंदगी खूबसूरत है, उसे सजाने के लिए कहीं बाहर जाने की अपेक्षा नहीं है। सादगी के रत्नों द्वारा उसे सज्जित किया जा सकता है।

सादगी के रत्न को धारण करने वाला जीवन में खुशियों को बटोर सकता है। क्योंकि उसके आचार में श्रेष्ठता है, विचारों में पवित्रता है और बुद्धि के साथ विनम्रता विद्यमान है। व्यवहार में सादगी का दर्शन स्वतः ही आकर्षित करता है। भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के पास धन-वैभव की कमी नहीं थी। फिर भी वे एक वस्त्र को धारण करके सबके लिए पूज्य व आकर्षण का केंद्र-बिंदु बन गए। अंतःसौंदर्य सदैव विचारों की निर्मलता से ही बढ़ता है और जब साधना का सौंदर्य टपकने लगता है, तो आभामंडल तेजस्वी बन जाता है।

वास्तव में महान पुरुष ही जिंदगी की बगिया को स्वच्छ विचारधारा से सौंदर्य पूरित कर सकते हैं। आज बाह्य सौंदर्य की होड़-सी लग रही है। लोग बाहरी शरीर को संवारने में घंटा-घंटा बिता देते हैं, लाखों रुपए खर्च कर देते हैं, जबकि वह सौंदर्य प्रसाधन सामग्री हिंसात्मक रूप से तैयार की जाती है। इसके पीछे संभवतः पशुओं का करुण क्रंदन होता है। राजा दशरथ स्नान करके आईने के सम्मुख खड़े होकर शरीर के सौंदर्य को निहार रहे थे। निहारते-निहारते एक सफेद बाल दिखाई देता है। उनकी चेतना जाग जाती है और वे वैराग्यवासित हो जाते हैं। वस्त्र व आभूषण से कृत्रिम सुंदरता पाने की बजाय उत्तम विचार, उत्तम आचार से वास्तविक सौंदर्य का मालिक बनने वाला जीवन की श्रेष्ठता को जान सकता है।

आज व्यक्ति दोहरी जिंदगी जी रहा है। सोने के नाम पर तांबे का झोल चढ़ा रहा है। उसके भीतर कुप्रवृत्तियां विराजित हैं, पर बाहर से सद्गुणों की सुवास फैलाने में लगा हुआ है। आवेश के साथ आग्रह भी घर करने लगा है। केवल मुख पर हंसी को रखता है, लेकिन उसकी हंसी में कुटिलता भरी है। मुस्कान में कृत्रिमता व गले मिलने में धूर्तता आ गई है। प्रभावी जीवन जीने के लिए धूर्तता की धूनी तपना विवशता-सी होने लगी है। कारण स्पष्ट है कि जब तक बाह्य व्यवहार व अंतर का आचार समान नहीं होता, तब तक व्यक्ति दोमुंहे सांप की भांति भयंकरता को धारण करेगा।

आज आदमी-आदमी में आतंकवाद, आग्रह और आवेश छा गया है। धूमिल होती जिंदगी इसीलिए बोझ बनती जा रही है।

शिशुपाल वध में कहा है—**'परवृद्धिभिराहित-व्यथः स्फुटनिर्भिन्नदुराशयोऽधमेः'**, नीच कोटि के व्यक्ति का हृदय दूसरे की उन्नति से व्यथित और विदीर्ण होता है। ईर्ष्या के दीमक से व्यक्ति अंदर ही अंदर सुलगता हुआ अपने विकास को अवरुद्ध कर देता है। ईर्ष्या और द्वेष जीवन को पराजित करने वाले तत्त्व हैं। आज मानसिक बीमारी का कारण संभवतः द्वेष व ईर्ष्या ही हैं। जब अंतःमानस में ईर्ष्या व द्वेष की चिनगारी समाप्त होती है, तभी हृदय में विनम्रता व कृतज्ञता उभरती है। तभी चित्त आनंदित होता है और मुख पर प्रसन्नता दौड़ने लगती है।

जो जितना विनम्र रहता है, वह उतना ही माधुर्य से भरा जीवन जी सकता है। जो उपकारी का उपकार प्राप्त कर भूल जाता है, विषम परिस्थिति में प्राप्त सही मार्गदर्शक के प्रति अनुकूल परिस्थिति में समत्वपूर्ण व्यवहार नहीं करता है—वह दर-दर की ठोकरें खाता हुआ अपने जीवन के अस्तित्व को समाप्त कर देता है। एक बार समुद्र ने नदियों से पूछा—तुम हमारे लिए भेंट स्वरूप बड़े-बड़े पत्थर और पेड़ों को लाती हो, परंतु तुम्हारे किनारों पर उगे 'बैंत' को क्यों नहीं? नदियों ने कहा—हम उन्हीं को भेंट स्वरूप लाते हैं, जो हमारे वेग को रोकते हैं। हम हमारी कृतघ्न संतानों को ही आपके सुपुर्द करते हैं, जो हमसे पोषण पाकर बड़े हुए, फिर भी अकड़ कर हमारा रास्ता रोक लेते हैं। आपको भेंट करते ही उनका अस्तित्व खो जाता है, अभिमान समाप्त हो जाता है। विनयवंत 'बैंत' कृतज्ञ रहते हैं, बार-बार झुकते हैं, इसलिए वे हमारे किनारों की शोभा हैं।

वास्तव में जीवन जीने की कला का राज—विनम्रता व कृतज्ञता है, जिससे इंसान प्रत्येक व्यक्ति के दिल में अपना स्थान बना सकता है। ❖

**दीक्षा दिवस : युवा दिवस : हर्ष-हर्ष**
**□ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी □**
**16 मई**

*हमने आत्मोदय अथवा आत्मकल्याण के लिए अभिनिष्क्रमण किया है। आत्मोदय, आत्मकल्याण या आत्मनिष्ठा की भावना हममें संपुष्ट बनी रहे।'—संघीय सारणा-वारणा के हर प्रशासनिक दायित्व का निर्वहन करते हुए भी आचार्यश्री महाश्रमणजी के चिंतन का केंद्रीय बिंदु आत्मा और आत्मा का कल्याण ही रहता है। उनकी जीवनशैली में आत्मा की तुष्टि के विशेष प्रयोग पदे-पदे देखे जा सकते हैं। आचार्यश्री महाश्रमणजी का व्यक्तित्व ऐसा समवाय है, जिसमें 'ई. क्यू.', 'आइ. क्यू.', 'ए. क्यू.' और इसी के साथ 'एस. क्यू.' का संपूर्ण समावेश है।*

# आचार्यश्री महाश्रमण : रहो भीतर; जीओ बाहर

साध्वी विश्रुतविभा

साधक लुकमान के बेटे से कहा गया कि वह भगवान से कुछ मांगे। उसने अपनी प्रार्थना प्रस्तुत की—'पसीने की कमाई, परमार्थ से प्रीति, उदारता की वृत्ति, आंखों की तेजस्विता और अच्छा स्वभाव मिले।'—इससे अधिक उसने कुछ नहीं मांगा। वस्तुतः इन अर्हताओं से ही कोई व्यक्ति पूज्यता के पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है।

हर व्यक्ति के सामने विकास का असीम आकाश खुला है और कुछ मानक तत्त्वों के आधार पर इसका आकलन भी किया जा सकता है। व्यक्तित्व विकास के संदर्भ में वर्तमान प्रबंधन जगत में चार तरह की बातें सामने आती हैं—(1) इंटेलिजेंस कोशेंट (आइ. क्यू.), (2) इमोशनल कोशेंट (ई. क्यू.), (3) एडवर्सिटी कोशेंट (ए. क्यू.) और (4) स्पिरिचुअल कोशेंट (एस. क्यू.)।

तेरापंथ धर्मसंघ के एकादशम अधिशास्ता आचार्यश्री महाश्रमणजी के जीवन को हम उपर्युक्त अर्हताओं के प्रायोगिक रूप में देख सकते हैं। वहीं प्रबंधन से जुड़े चारों आयामों को भी विकास के एक संगम के रूप में देख सकते हैं।

व्यक्तित्व विकास का पहला घटक-तत्त्व बौद्धिक क्षमता के साथ जुड़ा हुआ है। शिक्षा के जगत में बुद्धि का बड़ा महत्त्व है। बुद्धि से जहां समस्याएं समाहित की जा सकती हैं, वहीं ये पैदा भी की जा सकती हैं। प्रशस्तता या अप्रशस्तता के आधार पर इसे सृजनात्मक या विध्वंसात्मक कहा जा सकता है। आचार्यश्री भिक्षु ने बुद्धि की प्रशस्तता को काम्य बताते हुए स्पष्ट उद्घोषणा की है—

**बुद्धि वा ही सराहिए, जे सेवै जिन धर्म।**
**बा बुद्धि किण काम री जो पड़िया बांधै कर्म।।**

वही बुद्धि प्रशंसनीय है, जो आत्मशुद्धि का साधन बने। प्रशस्त बुद्धि के उदाहरण हमारे सम्मुख विद्यमान हैं। महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू, गोस्वामी तुलसीदास, संत कबीर, आचार्यश्री भिक्षु, आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ आदि इसके पुष्ट प्रमाण कहे जा सकते हैं।

आचार्यश्री महाश्रमणजी की बौद्धिक क्षमता भी विलक्षण है। इसी के बल से आप आगंतुकों की जिज्ञासाओं को कुशलता से समाहित करते हैं। बुद्धि के संदर्भ में आचार्यश्री महाश्रमणजी का निश्चित अभिमत है कि **शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः**। उनकी बौद्धिक जिज्ञासा और प्रश्न-प्रतिप्रश्न की क्षमता इसका प्रमाण है।

एक घटना का उल्लेख प्रासंगिक होगा—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की सन्निधि में जैन पारिभाषिक शब्दकोश के निर्माण का काम चल रहा था। उस समय आप जिस तरह से शब्दों की गहराई में उतर कर एक-एक शब्द पर तर्क-प्रतितर्क प्रस्तुत करते तो स्वयं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते—'महाश्रमण की बौद्धिक क्षमता का जवाब नहीं।'—हम जानते हैं कि जिसके पास बौद्धिक क्षमता होती है, वह अपने चिंतन को सरलता से अभिव्यक्त कर सकता है। 'गीता और उत्तराध्ययन' तथा 'धम्मपद और उत्तराध्ययन' पर किया गया आपका तुलनात्मक विश्लेषण भी इसका जीवंत साक्ष्य है। किसी भी जिज्ञासा का यौक्तिक व सटीक समाधान करना आचार्यश्री महाश्रमणजी की सहज शैली है।

व्यक्तित्व विकास के संदर्भ में प्रबंधन जगत केवल बौद्धिक विकास को ही पूर्ण नहीं मानता। यह माना जाता है कि बौद्धिक विकास के साथ भावनात्मक विकास भी होना चाहिए। अब 'आइ-क्यू' के साथ-साथ 'ई-क्यू' को भी मान्यता मिल रही है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक राबर्ट फ्रास्ट ने लिखा है—'आज मनोरोग बड़ी तेजी से पनप रहे हैं। करोड़ों डॉलर का व्यवसायी या संपूर्ण व्यवस्था संभालने वाला कुशल प्रबंधक 'समग्र व्यक्ति' नहीं माना जाता है। संवेदनशीलता का अभाव तो खंडित व्यक्तित्व का ही निर्माण करता है।'

व्यक्तित्व विकास के लिए मात्र वैचारिक उड़ान ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए भावनात्मक विकास (आवेश नियंत्रण) भी आवश्यक है। आचार्यश्री महाश्रमणजी के आभा-वलय में बौद्धिक विकास के साथ भावनात्मक विकास का सौंदर्य सहजतया देखा जा सकता है। हमें उनके शांत और सौम्य मुख-मंडल से इसकी प्रतीति होती है। तेरापंथ को आपका नेतृत्व वर्षों से प्राप्त है—पहले युवाचार्य के रूप में और अब आचार्य के रूप में और इस नाते अनेक लोगों से आपका संपर्क होता है। कई लोग आपके साथ शालीनता से वार्तालाप करते हैं, तो कभी-कभी विवादास्पद मुद्दे भी आपके सामने आ जाते हैं। उस समय आवेशपूर्ण बातें भी आपके सम्मुख प्रस्तुत होती हैं, पर आप उन सबको शांत भाव से सुनते हैं और समस्याओं का समाधान भी देते हैं।

राजलदेसर (चूरू जिला) में मर्यादा महोत्सव के दौरान आचार्य पदाभिषेक का द्वितीय चरण मनाया गया। चतुर्विध धर्मसंघ की उपस्थिति में उस समय आपने फरमाया—'धर्मसंघ में विकास के अनेक आयाम हैं। अपेक्षानुसार इन पर ध्यान देना ही चाहिए, किंतु मैं सबसे ज्यादा ध्यान इस बात पर दे रहा हूं कि हमारे धर्मसंघ में साधना का विकास होना चाहिए। प्राथमिक रूप से मेरा यही लक्ष्य है।' इसी के साथ आपने कहा—'साधना के दो रूप हैं—एक कषाय मंदता की साधना और दूसरा निर्धारित आचार के प्रति जागरूकता। मैं सर्वाधिक महत्त्व साधना को दे रहा हूं और इसी के लिए यथाशक्ति प्रयास करता रहूंगा। स्वयं मुझमें और मेरे धर्मसंघ में भी साधना का, कषाय मंदता का विकास होता रहे। कषाय की मंदता जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक भावनात्मक विकास होगा।'—आचार्यश्री महाश्रमणजी हर समय उपशांत अवस्था में रहते हैं और प्रतीत होता है कि आप कषाय की साधना के द्वारा सिद्धि के द्वार पर दस्तक दे रहे हैं। प्रतीत होता है कि आपका व्यक्तित्व उपशम के परमाणुओं से ही निर्मित हुआ है। इसीलिए जन-जन के मन को यह आकर्षित कर रहा है।

'आइ. क्यू.' का विकास हो गया, 'ई. क्यू.' का विकास हो गया किंतु 'ए. क्यू.' का विकास नहीं हुआ—तो भी व्यक्ति अपने गंतव्य तक नहीं पहुंच सकता। 'आइ. क्यू.' और ई. क्यू.' अच्छा और आवश्यक है, पर सफलता के लिए 'ए. क्यू.' का होना भी जरूरी है। आचार्यश्री महाश्रमणजी ने अपने जीवन में 'ए. क्यू.' का विकास भी किया है। 'एडवर्सिटी कोशेंट' सफलता का नया सूचकांक है। संस्कृत साहित्य में प्रस्तुत संदर्भ में तीन प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा मिलती है—1. निम्न व्यक्ति, 2. मध्यम व्यक्ति और 3. उत्तम व्यक्ति।

**प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,**
**प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।**
**विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,**
**प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यज्यन्तिः।**

प्रस्तुत चिंतन के संदर्भ में पाश्चात्य लेखक डॉ. पॉल स्टोल्टज ने 'ए. क्यू.' के तीन स्तर बतलाएं हैं—(1) मुश्किल सामने आते ही मैदान छोड़ना, (2) कार्य के मध्य तक पहुंच कर उसे छोड़ देना, (3) लक्ष्य तक पहुंच कर ही विश्राम लेना।

जो चंचल चित्त वाले व्यक्ति होते हैं, वे विषम परिस्थिति सामने आते ही कार्य को छोड़ देते हैं। दूसरी श्रेणी में कुछ व्यक्ति कार्य प्रारंभ तो कर देते हैं, किंतु मध्य तक पहुंचते-पहुंचते उसे छोड़ देते हैं, और कुछ लोग ऐसे होते हैं (तीसरी श्रेणी) जो कितनी भी प्रतिकूल परिस्थितियां आए, कितनी भी चुनौतियां आए—प्रारंभ किए हुए कार्य को निष्ठापूर्वक मंजिल तक पहुंचाए बिना विश्राम नहीं लेते। आचार्यश्री महाश्रमणजी का व्यक्तित्व ऐसा ही साहसिक व्यक्तित्व है। वे कठिनाइयों के कारण किसी कार्य को नहीं छोड़ते हैं और न ही बीच में रुकते हैं। वे कार्य की पूर्णाहुति पर ही तुष्टि का अनुभव करते हैं। इस संदर्भ में आचार्यश्री महाश्रमणजी के जीवन का एक निम्नोक्त प्रसंग समीचीन होगा।

सन् 2002 में बालोतरा प्रवास के समय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की तीव्र अभीप्सा रही कि हमारे संघ में नए साधु-साध्वियां व्याकरण (भिक्षुशब्दानुशासन) का अध्ययन करें। व्याकरण के बिना आगम शास्त्रों और आगम के व्याख्या-साहित्य को गहराई से नहीं समझा जा सकता। उन्होंने युवाचार्यश्री महाश्रमण (वर्तमान में आचार्यश्री महाश्रमणजी) को 'भिक्षुशब्दानुशासनम्' के वाचन का निर्देश दिया। उस वर्ष अक्षयतृतीया बाव नगर में थी और साधु-साध्वियों ने वहीं से उत्साह के साथ इसके अध्ययन की शुरुआत कर दी। प्रारंभ में विद्यार्थी साधु-साध्वियों की अच्छी संख्या थी, पर कुछ साधु-साध्वियों ने थोड़े दिन बाद उसे छोड़ दिया। कुछेक को ऐसा प्रतीत हुआ कि समय बीतता जा रहा है, व्याकरण कैसे पूरी होगी! यह सोच कर अपना अध्ययन बीच में ही छोड़ दिया। अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों (साधु-साध्वीगण) की संख्या धीरे-धीरे कम होने लगी, पर युवाचार्यश्री महाश्रमणजी इस स्थिति से विचलित नहीं हुए। उनका दृढ़ संकल्प था कि एक भी विद्यार्थी मेरे सामने रहेगा, तो मैं अध्ययन जारी रखने और उसे निष्पत्ति तक ले जाने का भाव रखता हूं।

यद्यपि उनके सामने अनेक कार्यों की बहुलता थी। प्रतिदिन विहार करना, प्रवचन करना, आगम कार्य करना, गोचरी करना आदि अनेक करणीय कार्यों की लंबी सूची थी। दूसरी ओर इस अध्ययन में रुचिशील साधु-साध्वियों की संख्या भी कम होती जा रही थी। मर्यादा-महोत्सव व अन्य आयोजनों के समय अध्ययन के क्रम में अवरोध भी आता रहता था, किंतु इन कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने अध्यापन को पूर्ण-विराम नहीं दिया। यदि कोई सामान्य व्यक्ति होता तो परिस्थितियों से प्रभावित होकर इस क्रम को मध्य में ही रोक देता, पर उनका मनोबल कमजोर नहीं हुआ। वे कभी अधीर नहीं बने। हम कह सकते हैं कि आचार्यवर का धृतिबल विलक्षण है, मनोबल विलक्षण है। सन् 2002 में प्रारंभ किए गए वाचन की पूर्णाहुति सन् 2008 के जयपुर चातुर्मास में जाकर हुई। आचार्यश्री महाश्रमणजी का धैर्यवान व्यक्तित्व का यह एक ज्वलंत उदाहरण है।

वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसी स्थिति तक पहुंचने के लिए व्यक्ति को अपने दिमाग का एक विशिष्ट हिस्सा—'नियो कोर्टक्स' का इस्तेमाल करने की जरूरत होती है। आचार्यवर के मस्तिष्क का 'नियो कोर्टक्स' का हिस्सा जागृत है। इसलिए वे समस्या को समस्या नहीं मानते। प्रत्येक समस्या को समाहित करते हुए विकास की पगडंडी पर अपने चरणों को अनवरत गतिशील कर रहे हैं।

व्यक्तित्व-निर्माण का चौथा घटक तत्त्व 'एस. क्यू.' है। इसका विकास अत्यावश्यक है। स्पिरिचुअल कोशेंट (एस. क्यू.) के बल पर आध्यात्मिक चेतना का जागरण होता है और इससे व्यक्ति अंतर्मुखी बन जाता है। जब अंतर्मुखी बनता है, तब ध्यान बाह्य से आंतरिक सौंदर्य की ओर केंद्रित हो जाता है। आचार्यश्री महाश्रमणजी की चेतना का केंद्रबिंदु है—अध्यात्म। उनकी आध्यात्मिक चेतना जागृत है और इसलिए वे अंतर्मुखी हैं। इसलिए आंतरिक सौंदर्य के प्रति उत्तरोत्तर अनुराग बढ़ रहा है।

आचार्यश्री महाश्रमणजी ने जब आचार्यपद के दायित्व को ग्रहण किया, उस समय यह संकल्प व्यक्त किया था कि हमारे संघ में पंच-निष्ठामृत का विकास हो। पंच-निष्ठाओं में पहली निष्ठा है—आत्मनिष्ठा। आचार्यवर ने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा—'मैं चाहता हूं कि हमारे धर्मसंघ में 'आत्मनिष्ठा' का विकास हो। हमने आत्मोदय अथवा आत्मकल्याण के लिए अभिनिष्क्रमण किया है। आत्मोदय, आत्मकल्याण या आत्मनिष्ठा की भावना हममें संपुष्ट बनी रहे।'—संघीय सारणा-वारणा के हर प्रशासनिक दायित्व का निर्वहन करते हुए भी आचार्यश्री महाश्रमणजी के चिंतन का केंद्रीय बिंदु आत्मा और आत्मा का कल्याण ही रहता है। उनकी जीवनशैली में आत्मा की तुष्टि के विशेष प्रयोग पदे-पदे देखे जा सकते हैं।

आचार्यश्री महाश्रमणजी का व्यक्तित्व ऐसा समवाय है, जिसमें 'ई. क्यू.', 'आइ. क्यू.', 'ए. क्यू.' और इसी के साथ 'एस. क्यू.' का संपूर्ण समावेश है। जो व्यक्ति 'निश्चयनय' के आधार पर अपनी जीवनशैली तय करता है, उसके लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के कथनानुसार 'रहो भीतर जीओ बाहर'—सूत्र आदर्श बन जाता है। वे इसी महत्त्वपूर्ण सूत्र के आदर्श प्रतिमान हैं।

❖

## रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित–प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

दो अंकों में समाप्य
कहानी की अंतिम कड़ी

*''''क्यों है एक आक्रांत और दूसरा आक्रामक? क्योंकि कोई अधिकार किए है, तो कोई अधिकार किया चाहता है। क्योंकि कुछ मेरा है, कुछ तेरा है। और मेरा-तेरा जब तक है, युद्ध रहेगा ही। मैं और मेरा है, कि तू और तेरा खड़ा होता है। सो मैं और मेरा का भाव ही, सारी उपाधि का मूल है। वह स्वभाव नहीं, विभाव है। सो वह सत्य नहीं, मिथ्या है। वह अज्ञान है, असत्य है। 'मैं वस्तु और व्यक्ति से लगा कर, व्यवस्था और राष्ट्रों तक की उस कारा को तोड़ने आया हूं। मैंने अभी संथागार के द्वार पर मंगल-पुष्करिणी का ताला तोड़ दिया और उसके मुक्त जल से जन-जन का अभिषेक कर दिया। तो वर्द्धमान भी विशेष नहीं रहा। वह अशेष, निःशेष हो गया। अब मुक्त वर्द्धमान मुक्त वैशालिकों से बोल रहा है।'*

# वैशाली के संथागार में

वीरेंद्रकुमार जैन

''''और सामने दिखाई पड़ा वैशाली का विश्व-विख्यात संथागार, जिसकी कीर्ति-पताका ससागरा पृथ्वी पर फहरा रही है। मनुष्य और वस्तु-मात्र की जन्म-जात स्वतंत्रता का यह मानस्तंभ है। चिर प्रगतिमान मानव के स्वातंत्र्य-संघर्ष की यह एकमात्र परित्राता आशा है।

शत-सहस्र जनगण की भुजाओं के चक्र पर वाहित 'त्रिभुवन-तिलक रथ' ठीक संथागार के विस्तीर्ण मर्मर-सोपान के सम्मुख आ खड़ा हुआ। सभागार के अंतराल और अलिंदों से अविराम जय-ध्वनियां गूंजने लगीं। अनेक मुकुटबद्ध कुल-राजन्यों का नेतृत्व करती, सबसे ऊपर के सोपान पर धनुष की प्रत्यंचा-सी दुर्नम्य और उत्तान एक कोमल गौरांगना खड़ी है। वह अपने दोनों हाथों में मंगलाचार का रत्न थाल उठाए है। उसकी आंखों के प्रदीप्त नीलमों में पश्चिमी समुद्र बंदी है। उसके सुडोल अंगांगों में कापिशेय अंगूरों की लताएं झूम रही हैं।

''''निमिष मात्र में ही मैंने गांधार-बाला रोहिणी को पहचान लिया। स्वागत में फैली उसकी इषत् मुस्कान को शिरोधार्य कर, मैं एक ही छलांग में रथ से उतर कर संथागार के सोपान चढ़ गया। मेरे संकेत पर मेरे सारथी गारुड़ ने भी मेरा अनुसरण किया। गांधारी मामी ने अक्षत-फूल बरसा कर मुझे बधाया। उनके मुख से सहज ही फूटा—'इक्ष्वाकुओं के सूर्य-पुत्र को गांधारी रोहिणी प्रणाम करती है। विशाला धन्य हुई, अपने आंचल की छांव में अपने भुवन-मोहन पुत्र को पा कर!'

—'विशाला का गणपुत्र गांधार गण-नंदिनी रोहिणी से मिलने आया है। आर्यावर्त के पश्चिमी समुद्र-तोरण की स्वातंत्र्य-लक्ष्मी को प्रणाम करता हूं।'—कह कर ज्यों ही मैं मामी के चरण-स्पर्श को झुका, कि उनकी धनुषाकार बांहों के कंठहार तले, मेरा ललाट उनके वक्षदेश पर उत्सर्गित हो रहा।

—'मामी''''!'

—'मेरे महावीर····!'

सुवर्ण की एक प्रशस्त चौकी पर सामने ही फूल-पल्लवों से आच्छादित माटी का एकं सुचित्रित कुंभ रक्खा है। उसे दोनों हाथों में उठा कर रोहिणी ने उस पर ढंके श्रीफल को अतिथि के चरणों में अर्पित करते हुए कहा—'वैशाली की मंगल-पुष्करिणी का राज्याभिषेक स्वीकारो, देवपुत्र वर्द्धमान!'

—'····क्या मंगल-पुष्करिणी के चिरकाल के बंदी जल मेरे हाथों मुक्ति चाहते हैं, मामी?'—कहते हुए मैंने रोहिणी के हाथों थमा कलश, बरबस ही अपने हाथों में ले लिया। एक हाथ की अंजुलि में उसका जल ले कर मैं मुड़ा, और उसे पीछे उमड़ रहे जन-पारावार पर उछाल दिया। फिर पास ही अनुगत खड़े अपने सारथी गारुड़ के मस्तक पर एक जलांजुलि ढाल दी और एक और जलांजुलि भर कर उसके पग पखार दिये। गांधारी आह्लाद से स्तब्ध देखती रह गई। स्वागतार्थी गणराजन्यों की भुकुटियां तन आईं।

और पीछे सहस्र गुने उल्लास की गर्जना लक्ष-लक्ष गण-कंठों से बारंबार गूंज उठी।

—'लिच्छवियों का गण-सम्राट अनंतों में जयवंत हो!'

मैंने कलश रोहिणी के हाथों में थमाते हुए कहा—'इंद्रप्रस्थ के राजसूय यज्ञ में वासुदेव कृष्ण ने द्वार पर आगत अतिथियों का पाद-प्रक्षालन किया था। आज वैशाली में मेरा भी राजसूय यज्ञ संपन्न हुआ, मामी! ····आज मंगल-पुष्करिणी के चिर बंदी जल अपने जनगण का अभिषेक करके मुक्त हुए। चाहो तो, मामी, इस मुक्त जल तत्त्व से अपने दोहित्र का अभिषेक करो!'

मामी ने कई-कई अंजुलियां भर के सुगंध-जल मेरी आचूड़ देह पर बरसाए। भाल पर तिलक कर के, उस पर हीरक-अक्षत लगाए। सर झुका कर मैंने उनकी जयमाला धारण की।

फिर आगे-आगे चलती हुई वे मुझे सभागार में ले चलीं। नौ सौ निन्यानवे कुल-राजन्यों, सामंतों, श्रेष्ठियों, नागरिकों से सभागार खचाखच भरा है। मत्स्य देश के नील-श्वेत मर्मर पाषाणों से निर्मित, बेशुमार स्वर्ण-खचित स्तंभिकाओं से मंडित, इस भव्य भवन का शिल्प-वैभव विस्मयकारी है। इसकी दीवारों पर चहुं ओर आर्य शलाका-पुरुषों और तीर्थंकरों की जीवन-लीलाएं चित्रित हैं।

मेरे प्रवेश करते ही समस्त परिषद में एक मुग्ध और अलौकिक निःशब्दता व्याप गई। सभागार के शीर्ष पर, एक विशाल मर्मर वेदी के मध्य स्फटिक की भव्य गंध-कुटी आसीन है। उसके सर्वोपरि देवालय में, माणिक्य के विशद कमलासन पर भगवान ऋषभदेव का एक भव्य मनोज्ञ बिंब विराजमान है। वेदी पर चढ़ते ही मैंने उसके पाद-प्रांत में साष्टांग प्रणिपात किया। उसके एक ओर के स्वर्णिम भद्रासन पर गणपति चेटकराज आसीन हुए।····और मैंने पाया कि, मैं सहसा ही गंधकुटी के अंतिम सोपान पर एक जानू मोड़, दूसरा जानू खड़ा कर, शार्दूल मुद्रा में बैठ गया हूं और अपने लिए बिछे सुवर्ण-सिंहासन की पीठिका पर मैंने अपनी एक बांह पसार दी है। परिषद में प्रत्याशा और विभोरता का एक अखंड मौन व्याप गया है।

····औचक ही कास्य-घंट पर रजत-दंड का गंभीर आघात हुआ। सन्नी-पात भेरी तीन बार बज कर चुप हो गई। परिषद का उपोद्घात करते हुए चेटकराज ने खड़े होकर कहा—'भंतेगण, सुनें। दिव्य है आज का यह मंगल-मुहूर्त। लिच्छवि कुल के देवांशी आर्यपुत्र वर्द्धमान आज हमारे बीच उपस्थित हैं। समकालीन विश्व के आकाश उनकी कीर्ति से गुंजायमान हैं। सूर्य सम्मुख है। वह स्वयं ही अपना परिचय है। आप सब की चाह पर वे यहां आए हैं। आपकी ओर से उनसे निवेदन है कि वे अपनी वाणी से वैशाली को कृतार्थ करें।'

खड़े होकर मैंने अपने को यों संबोधन करते सुना—'भंतेगण, सुनें। आपके सम्मुख हूं, मां वैशाली के चरणों में प्रस्तुत हूं। तो अपने होने को धन्य मानता हूं। एक अनुग्रह का प्रार्थी हूं। भंतेगण, एक बार मेरे निवेदन को पूरा सुनें। फिर कोई प्रश्न उठे, तो उत्तर मुझ से आएगा ही।'

'यहां आने वाला मैं कौन होता हूं। लगता है कि बुलाया गया हूं, लाया गया हूं। भेजा हुआ आया हूं। आयोजन उसी महासत्ता का है। मैं यहां इस क्षण उसी के द्वारा नियुक्त हूं। वही बोलेगी, मैं नहीं। वैशाली के तोरण में प्रवेश करते ही पाया है कि अपने को रख नहीं सका हूं। केवल अपने को होते हुए देख रहा हूं।'

'.....सुना कि वैशाली संकट में है और आवाहन है कि उसके त्राण की तलवार और ढाल बनूं। सो तलवार और ढाल त्याग आया, स्वयं वह बन कर इस कसौटी पर अपने को परखने आया हूं। कृतज्ञ हूं, आप सबका कि अपने को पहचानने का यह अवसर आपने मुझे दिया है।'

'भंतेगण, सुनें। यदि वैशाली आक्रांत है तो मैं उसे बचाने नहीं आया, आक्रमण तले उसे बिछा देने आया हूं। मैं युद्ध को प्रतियुद्ध से पराजित करने नहीं आया। मैं युद्ध को स्थगित करने नहीं आया, उसे अंतिम रूप से लड़ कर समाप्त कर देने आया हूं। मैं संधियों पर ठहरी भयभीत शांति को कायम रखने नहीं आया, उसे सदा के लिए भंग कर देने आया हूं।'

'.....क्यों है एक आक्रांत और दूसरा आक्रामक? क्योंकि कोई अधिकार किए है, तो कोई अधिकार किया चाहता है। क्योंकि कुछ मेरा है, कुछ तेरा है। और मेरा-तेरा जब तक है, युद्ध रहेगा ही। मैं और मेरा है, कि तू और तेरा खड़ा होता है। सो मैं और मेरा का भाव ही, सारी उपाधि का मूल है। वह स्वभाव नहीं, विभाव है। सो वह सत्य नहीं, मिथ्या है। वह अज्ञान है, असत्य है। वह कुछ वह है, जो दरअसल है ही नहीं। मात्र प्रमादजन्य भ्रांति है, जो मूर्छा से उत्पन्न होती है। वह स्वभाव से गिर कर, अभाव में जीना है। जो मेरा और वस्तु का स्वभाव नहीं, वह उसमें रहना है। वही असली पाप है। इसी मूर्च्छा को प्रज्ञों ने परिग्रह कहा है और परिग्रह को ही उन्होंने सबसे बड़ा पाप कहा है। परिग्रह, यानी अपने को और वस्तु को चारों ओर से घेर लेना, कैद कर देना। वस्तु को कैद कर उसे लेकर व्यक्तियों और राष्ट्रों तक के बीच जो लड़ाई है, वह कैदियों के बीच है। यह कारा टूट जाए, तो सारा और सब स्वतंत्र हो जाए। और युद्ध सदा को समाप्त हो जाए।'

'मैं वस्तु और व्यक्ति से लगा कर, व्यवस्था और राष्ट्रों तक की उस कारा को तोड़ने आया हूं। मैंने अभी संथागार के द्वार पर मंगल-पुष्करिणी का ताला तोड़ दिया और उसके मुक्त जल से जन-जन का अभिषेक कर दिया। तो वर्द्धमान भी विशेष नहीं रहा। वह अशेष, निःशेष हो गया। अब मुक्त वर्द्धमान मुक्त वैशालिकों से बोल रहा है।'

'.....आप कहते हैं, वैशाली पर संकट है, आक्रमण है। पर, अभी जो जन-गण का उल्लास मैंने देखा है, उसमें संकट मुझे कहीं नहीं दीखा। आक्रांति नहीं दीखी, दीखी तो अतिक्रांति दीखी, आनंद दीखा। भीतर जो अभाव की खंदक सब में है, उसे अतिक्रांत कर सब को आनंदित होते देखा। यानी मुझे सामने पाया, तो सब विभाव के अंधकार को लांघ कर स्वभाव में आ गए। तो भीतर जो अंधेरा है, भय है, वह मिथ्या है, मूर्च्छाजन्य है, क्षणिक है। सत्य और संचेतन जो है, वह तो वह वैशाली है, जो मैंने अभी देखी।'

'मैंने जो अभी देखा, वह वैशाली का ऐश्वर्य है, अभिशाप नहीं। अभिशाप जो हम देख रहे हैं, वह हमारा मात्र अज्ञान है, वर्ना तो ऐश्वर्य यहां अनंत और अव्याबाध है। ऐश्वर्य ईश्वरीय है, वह पुरुषीय है ही नहीं। मैंने यहां जन और धन का वह मुक्त ऐश्वर्य देखा। कारा हमारे मन में, हमारे अज्ञान में है, जिसे अपने ऊपर और वस्तु पर लाद कर, हमने अपने बीच आक्रांत और आक्रामक का द्वंद्व उत्पन्न कर लिया है। मैं और मेरा, तू और तेरा का यह परिग्रह जब तक रहेगा, तब तक विग्रह रहेगा ही, युद्ध अनिवार्य होगा ही। मैं और मेरा मिट जाएं तो मुहूर्त मात्र में सारे संकट समाप्त हो जाए।'

'.....वही तो करने को मैं आया हूं। इसी से निःशस्त्र और निष्कवच आया हूं। शुद्ध स्वाभाविक, स्वतंत्र, स्वयं आया हूं। अपने ऊपर आए हर कोश और कारा को तोड़ कर आया हूं, ताकि वैशाली कारागार न रह जाए, वह सर्व का अपना स्वतंत्र आत्मागार हो जाए।'

'आप कहेंगे वैशाली तो स्वतंत्र है ही, क्योंकि वह गणतंत्र है। उसमें कोई राजा नहीं, यहां का जन-जन राजा है। हर व्यक्ति यहां स्वतंत्र है और अपने भाग्य का स्वयं निर्णायक है। पर, यह भ्रांति है, यह आत्मवंचना है। यहां का हर व्यक्ति स्वतंत्र और आत्मनिर्णय का अधिकारी मुझे नहीं दीखा। ऐसा होता तो आर्यावर्त की तेजशिखा, देवी आम्रपाली को गणिका के गवाक्ष पर बैठने को विवश न होना पड़ता। हमने उनके आत्म-निर्णय के अधिकार का अपहरण करके उन्हें अपने काम का कैदी बनाया है। आपकी 'प्रवेणी पुस्तक' चाहे कितनी ही प्राचीन क्यों न हो, उसमें निर्धारित सारे कानून वासना को अपने हक में व्यवस्था देने के लिए रचे गए हैं। बाहरी व्यवस्था मात्र

काम और परिग्रह का सरंजाम और इंतजाम है। परंपरा केवल एकमेव सत्य की ही अक्षुण्ण और शिरोधार्य हो सकती है। अन्य सब परंपराएं पर्याय की हैं और द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के नित-नूतन परिणमन के अनुसार उन्हें पलट जाना होता है। इसी से कहता हूं, 'प्रवेणी पुस्तक' के कानून, नूतन विश्व-परिणमन के साथ अपने आप ही टूट गए। खत्म हो गए। उन्हें पाले रख कर, हम परतंत्र ही कहे जा सकते हैं, स्वतंत्र नहीं।'

'उस कानून के कारागार को सर चढ़ा कर, हमने देवी आम्रपाली और अपने गणतंत्र का सत्कार नहीं किया, उन पर बलात्कार किया है। सर्वसुंदरी और सर्वप्रिया हैं वे। तो अधिकार और क्रय-विक्रय की वस्तु वे कैसे हो सकती हैं? निश्चय ही त्रिभुवन-मोहिनी हैं—अंबपाली। पर त्रिभुवन-मोहिनी वे गणिका होने के लिए नहीं, समस्त मानव-कुल की मां-वल्लभा होने के लिए हैं। ताकि मनुष्य की जन्मांतर-व्यापिनी सौंदर्य-वासना को वे अपनी मातृ-ममता से दुलरा कर, उसे अपनी ही स्वाधीन आत्म-लक्ष्मी के सौंदर्य का दर्शन करा सकें।'

'अज्ञात कुलशील हैं अंबपाली, तो इसलिए नहीं कि तथाकथित अभिजात कुलीन लोगों की भोग-संपत्ति होकर रहें। भगवती मां अज्ञात कुलशील ही होती हैं। ताकि वे कुलशील की क्षुद्र मर्यादा से अतीत हों। मोहाविष्ट मानव-रक्त से परे वे कुलातीत हों, अकुला हों, अनाकुला हों। जगदंबा मानव-निर्मित सारी छद्म नीति-मर्यादा को तोड़ कर ही मानव देह में प्रकट होती हैं। ताकि द्रव्य के स्वतंत्र परिणमन का वे प्रतिनिधित्व कर सकें। वे अवैध जन्मा भी हैं, तो इसलिए कि वैधता के छद्मशील में छुपे कुलशील के विधि-विहित व्यभिचार का वे पर्दाफाश कर सकें। सर्व को नग्न और निसर्ग कर देने के लिए ही, वे महाकाली सदा नग्न विचरती हैं और मिथ्याओं के सर्वसंहार के लिए वे सिंहवाहिनी हो कर प्रकट होती हैं।'

'भंतेगण, कान खोल कर सुनें। पिप्पली-कानन में विराजमान इक्ष्वाकुओं की कुलदेवी अंबा ही आम्रपाली के रूप में अवतीर्ण हुई हैं। आम्र-शाखा से औचक ही अंबा बन कर चू पड़ी वे आकाश-पुत्री हैं। उस आकाशिनी मां के उन्मुक्त आंचल पर हिरण्यों की होड़ें लगा कर, हमने मातृघात और आत्मघात का अक्षम्य अपराध किया है। सर्व की मां है—अंबा, इसी से तो वैशाली को आपस में कट-मरने से बचाने के लिए और वैशालकों के पशु को पाशव-पाश से मुक्त करने के लिए, उसने अपने अस्तित्व तक की बलि चढ़ा दी है।'

'····जीर्ण-जर्जर जगत के पुनरुत्थान के विधाता बन कर जो आए, वे सदा पालतू वैधता की पुरातन मर्यादाओं को तोड़ते हुए ही जन्मे हैं। उनके अवतरण के साथ ही मिथ्या हो गई मर्यादाएं टूटी हैं और नई मर्यादाएं स्वतः स्थापित हुई हैं। परापूर्व काल में मत्स्य-गंधा के अवैध गर्भ से जन्मे थे—भगवान वेद व्यास। कुलाभिमान को तोड़कर अकुलजात ब्रह्म-पुरुष का तेज पृथ्वी पर प्रकट करने को वे आए थे। शांतनु के काम-प्रमत्त क्षात्रत्व का तेजोवध करके, इसी महाब्राह्मण ने अपने अजितवीर्य की यज्ञाहुति देकर, विकृत हो गए क्षात्रत्व को शुद्ध करने के लिए, अपने लिंगातीत ब्रह्मचर्य की बलि चढ़ाना भी स्वीकार किया था, पर भारतों ने उस ब्रह्मतेज को भी व्यर्थ करके ही चैन लिया।'

'····इस तरह, इतिहास के आर-पार, चारों ओर स्वभाव की ग्लानि देख रहा हूं। स्वभावगत सोहंकार वैभाविक अहंकार हो गया है। उस विकृति में से लोभ का असुर जन्मा है। मैं और मेरा, तू और तेरा की अराजकता उससे निपजी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपना स्वभावगत कर्म त्याग कर, पथ-भ्रष्ट हुए हैं। उसका परिणाम है आपाधापी का यह अंतहीन दुश्चक्र। वस्तु अपने आप में शुद्ध और स्वाभाविक है, पर अपने अहं, लोभ और अधिकार-वासना से हमने उसे भी विकृत और अराजक बनाया है। सो संवाद और मित्रता का स्थान विसंवाद और शत्रुता ने ले लिया है। हमारे अपने ही अहं के सिवाय, बाहर हमारा कोई शत्रु नहीं है। पथ-भ्रष्ट ब्राह्मणत्व को सत्तासीन और बलवान क्षत्रिय ने धर दबोचा है। त्राता क्षात्रत्व, बलात्कारी अपहर्ता हो गया है। कुलाभिमान से प्रमत्त होकर क्षत्रिय ब्राह्मणत्व को पैरों से रौंद रहा है। हम मानो अपनी ही भुजाओं से अपने मस्तक का भंजन कर रहे हैं। शीर्ष पर सदा वही होगा, जो ब्रह्म को जाने। जो स्वभाव से ही ब्राह्मण हो, और स्वधर्म में ही चर्या करे। ब्राह्मणत्व का यह भंजन मुझे असह्य है। ब्रह्मयोगी का आसन उच्छेद करके लोक में धर्मराज्य का संतुलन कायम

नहीं रह सकता। मैं पददलित ब्राह्मणत्व को फिर से लोक की मूर्धा पर स्थापित करूंगा। मुझे उस महाब्राह्मण की प्रतीक्षा है, जो ब्रह्मज्ञानी के उस आसन पर आसीन हो सके। धर्मराज्य योगी ही स्थापित कर सकता है, भोगी नहीं। वह, जिसका भोग भी योग हो जाए, और योग भी भोग हो जाए। वैशाली की यह भूमि ऐसे ही एक राजयोगीश्वर की लीला-भूमि रही है। जनक विदेह के वंशधर होने के कारण ही हम विदेह कहलाते हैं, और हमारी यह भूमि तक विदेह-देश कही जाती है। एक बात मैं कहे देता हूं। राजसत्ता के सिंहासन पर एक दिन योगी को आना होगा। योगी को राजा होना पड़ेगा। उसके बिना पृथ्वी पर धर्मराज्य की स्थापना त्रिकाल संभव नहीं।....'

'शासन की मूर्धा पर जब तक योगी न हो, तब तक तुम्हारे ये सारे राज्य, वाणिज्य, व्यवस्था, प्रतिष्ठान गैरकानूनी हैं, अवैध हैं। वैध और कानूनी केवल वही व्यवस्था हो सकती है, जो सत्ता के स्वभाव पर आधारित हो। वर्तमान के सारे ही राज्य और वाणिज्य वस्तु-स्वभाव के व्यभिचार की उपज हैं। इसी से ये सब गैरकानूनी हैं। तुम्हारी यह 'प्रवेणी-पुस्तक', तुम्हारे ये सारे कानून, न्यायालय, सैन्य, कोट्टपालिका, नगरपालिका, सिक्का, शांति संधि-विग्रह, सब अवैध और गैरकानूनी हैं। क्योंकि ये स्वधर्म पर नहीं, पारस्परिक स्वार्थों की प्रतिस्पर्धाओं और समझौतों पर आधारित हैं। सारी राज्य-सीमाएं, संधियां, संरक्षण, स्वतंत्रताएं अवैध और गैरकानूनी हैं। क्योंकि ये असत्य, अधर्म, हिंसा और होड़ों पर टिकी हैं।....'

'बलशाली स्थापित स्वार्थ ने ही सिक्के का आविष्कार किया है। अधर्म का सुदृढ़ दुर्ग है—यह सिक्का। सिक्का है कि संचय, स्वार्थ-पोषण, शोषण और स्वामित्व की सुविधा संभव और निर्बाध हो गई है। स्वभावगत, संवादी, सुखी और शांतिपूर्ण जीवन-जगत के अभ्युदय के लिए यह अनिवार्य है कि सिक्का और उस पर टिके राज्य और वाणिज्य समाप्त हो जाएं। सिक्के ने जीवित मनुष्य और मनुष्य के बीच के, जीवित वस्तु और मनुष्य के बीच के, संबंधों को जड़ीभूत कर दिया है। सिक्के ने सत्ता का स्वत्व छीन लिया है, सत्त्व छीन लिया है। जब तक सिक्का है, व्यक्ति और वस्तु की मूलगत स्वतंत्रता का धर्मराज्य स्थापित नहीं हो सकता। सिक्के ने मनुष्य और जगत की सारी सुंदरताओं और भावनाओं को व्यवसाय बना दिया है। सिक्के पर टिके वाणिज्य ने आत्मा की सती सुंदरी को वेश्या बना कर छोड़ दिया है।....'

'यह सिक्के का ही प्रताप है कि वैशाली में भगवती आम्रपाली को गणिका के कोठे पर बैठा दिया गया है। उसे प्राप्त करने का मूल्य हिरण्य है, प्यार नहीं, आत्माहुति नहीं। हमने मां को यज्ञ की वेदी पर से उतार कर, भोगदासी बना दिया है। भंतेगण! सावधान, आम्रपाली वैशाली के भाग्य की निर्णायक है। जब तक वह मां हमारी वासना की जंजीरों में बंधी है, वैशाली का विनाश अनिवार्य है। केवल भगवती आम्रपाली में यह सामर्थ्य है कि वह वैशाली को सत्यानाश की लपटों से बचा सकती है। मैं यहां केवल मां के उस धर्म-शासन का संदेश सुनाने को उपस्थित हुआ हूं।'

'कामिनी और कांचन जब तक भोग की भूमि से उठ कर योग की भूमि पर उत्तीर्ण नहीं हो जाते, तब तक आक्रामक श्रेणिक, अजातशत्रु और पार्शव के शासानुशासों की परंपरा का अंत नहीं हो सकता। जब तक सर्वस्वहारी श्रेष्ठि हैं और उनके वाणिज्य का संवाहक सिक्का है, तब तक श्रेणि-विग्रह और आक्रमणकारी श्रेणिक सुरसा की चोटी होते ही चले जाएंगे।'

'....इसी से मैं स्वार्थ-न्यस्त राज्य, वाणिज्य, सिक्का और उसके व्यवस्थापक तमाम कानूनों को तोड़ने आया हूं। मैं इस झूठे कानून पर आधारित सारी सरहदों और मर्यादाओं का भंजन करने आया हूं।....'

'वैशाली के शत्रु मगध और बिंबिसार नहीं, महामात्य वर्षकार नहीं, वैशालकों का अहंकार-ममकार है। हम धर्म से विच्युत हो गए हैं, इसी से हमारे चारों ओर शत्रु हैं। इक्ष्वाकु लिच्छवियों की यह मर्यादा लोक-विख्यात है कि वे काष्ठ के उपधान पर सर रख कर सोते हैं। उनके सिरहाने तलवार है और वे सदा जागृत हैं। आज काष्ठ के उपधान की तो बात दूर, फूलों के तकियों पर और सुंदरी की बाहु पर भी लिच्छवि को चैन नहीं। उसकी वासना, लिप्सा और आरति का अंत नहीं। सांझ होते न होते, वैशाली गण का समस्त तारुण्य मदिरा की मूर्च्छा में

डूबा, आम्रपाली के सप्तभूमि प्रासाद के आंगने में, उसके एक कटाक्ष का भिखारी होता है। क्या यही है वैशाली का स्वातंत्र्य-गौरव? क्या इसी कापुरुषता की रक्षा के लिए आप चाहते हैं, कि वर्द्धमान तलवार उठाए, वह आपकी ढाल बने?

'आपकी इस झूठी आत्मरक्षा के लिए नहीं, पर आपकी आत्मा की रक्षा के लिए, बेशक मैं स्वयं तलवार और ढाल बनूंगा। फौलाद की तलवार नहीं, चैतन्य का खरधार खड्ग लेकर मैं स्वयं अपने और वैशाली के विरुद्ध उठूंगा। अपने ऊपर और वैशाली पर बिजलियां बन कर टूटूंगा। मैं बिंबिसार श्रेणिक को आगे रख कर, वैशाली का प्राचीन और जीर्ण परकोट तोड़ूंगा। मैं सरे राह उसे ले जाकर देवी आम्रपाली की गोद में डाल दूंगा, कि वे उसकी जन्म-जन्मों की प्यासी आत्मा को शरण दें। दमित वासना के जन्मांतर व्यापी नागपाशों से उसे मुक्त करें। मागध अजातशत्रु के सैन्य-बल और वर्षकार के कौटिल्य को जीतने के लिए मुझे शस्त्र और सैन्य की जरूरत नहीं। ये सारे विपथगामी और शत्रु, प्यार के प्यासे हैं और अकिंचन वर्द्धमान के पास यदि कोई सत्ता है, तो केवल प्यार की। उसके प्यार में पराजय और जय वे एक साथ पाएंगे। और, फिर भी यदि वे आक्रामक और घातक रह जाएंगे, तो केवल अपने। तब आत्मघात के सिवाय और कोई विकल्प उनके लिए नहीं रह जाएगा।...'

'मैं वैशाली को उस अनिवार्य सत्यानाश और आत्मघात से बचाना चाहता हूं। क्योंकि मैं उसे सर्वकालीन मानव-आत्मा और सत्ता मात्र की स्वतंत्रता का प्रतीक मानता हूं। मैं उसे पृथ्वी पर जिनेश्वरों के सर्वशरणदाई धर्म-साम्राज्य का सिंहासन मानता हूं।...'

'...तो भंतेगण, सुनें। उसके लिए अनिवार्य है कि वैशाली के परकोट निःसैन्य हो जाएं, वैशाली के शूरमा निःशस्त्र हो जाएं। वैशाली के धन-कुबेरों के कोशागारों, पण्यों, अंतरायणों और सिंह-तोरणों के सारे कपाट और ताले सदा को टूट जाएं। मां के सतीत्व को झूठी सुरक्षा की जंजीरों से मुक्त कर दिया जाए। उसके आंचल के धन-धान्य, सुवर्ण-रत्न, तमाम जीवन साधन, परिग्रह, अधिकार और कानून के शिकंजों से मुक्त होकर, उसके दूध की तरह मुक्त उमड़ कर, जन-जन को सुलभ हो जाएं। दुर्गों, कपाटों, तलवारों, तालों, जंजीरों, सैन्यों और कानूनों से हम चिर बंदिनी सत्ता-माँ को सदा के लिए मुक्त कर दें। फिर आप देखेंगे कि वैशाली को जीत सके और उसे पद-दलित कर सके—ऐसी ताकत पृथ्वी पर पैदा नहीं हुई है।...'

'वैशाली के तमाम हमलावरों के विरुद्ध मेरी यही एकमात्र युद्ध-योजना है। आपको यदि यह स्वीकार्य हो तो इसका सेनापतित्व ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान महावीर को सहर्ष शिरोधार्य होगा।...'

'आप सबने अभंग शांति में मुझे सुना, मैं कृतज्ञ हूं आपका। आपका कोई प्रति-प्रश्न हो, तो समाधान को मैं प्रस्तुत हूं।...'

... और चुप होते ही, अपार्थिव निस्तब्धता में मैंने अपने को एक जाज्वल्यमान शलाका की तरह निश्चल खड़े देखा।...

महानायक सिंहभद्र ने गण-प्रमुख की ओर से घोषणा की :

'भंतेगण, सुनें। आपके गणपुत्र वर्द्धमान ने अपनी युद्ध-योजना आपके समक्ष प्रस्तुत की है। उसे स्वीकारने या नकारने को आप स्वतंत्र हैं। छंद-शलाका में वर्द्धमान का विश्वास नहीं। वे किसी भी स्वतंत्र आवाज का स्वागत करेंगे।'

सात हजार सात सौ सतहत्तर गण-श्रोता कुछ इतने निःशब्द दीखे कि प्रश्न उनके भीतर जैसे खोया, खामोश और पराजित दीखा। तब हठात जैसे सबकी उलझन को व्यक्त करती एक बुलंद आवाज दूर श्रोता-मंडल में से सुनाई पड़ी :

'आयुष्यमान वर्द्धमान, सुनें। आप हमें वह करने को कहते हैं, जो इतिहास में कभी हुआ नहीं, होगा नहीं। न भूतो न भविष्यति।'

'बेशक, वही करने को कहता हूं, सौम्य। मैं इतिहास को दोहराने नहीं आया, उसके चिरकालीन आत्मघाती दुश्चक्र को तोड़ कर, उसे मनुष्य और वस्तु मात्र के हित में उलट देने आया हूं।'

'असंभव को संभव बनाने की यह टेक जोखिम भरी है, आर्य वर्द्धमान! जो आज तक न हुआ, वह कभी हो

नहीं सकता। उसका प्रयोग वैशाली पर करना, अपने ही हाथों अपने घर में आग लगा देना है।'

'यह सत्ता का स्वभाव नहीं कि जो अब तक न हुआ, वह आगे भी न होगा। ऐसा मानना सत्ता के सत्तत्व और अनंतत्व से इनकार करना है। सत्ता के सत्य को यहां स्थापित करने के लिए, यह जोखिम उठा लेनी होगी। अपने ही घर में आग लगा कर, उस आग के साथ अंतिम रूप से जूझ लेना चाहता हूं। उसमें अपने और वैशाली के आत्मतेज को परखना चाहता हूं। खरे हम उतरेंगे, तो इतिहास में अपूर्व और अप्रतिम विजय का वरण करेंगे। उस आंच में तपे बिना वैशाली अजेय नहीं हो सकती। उस अग्नि स्नान से अमर होकर न निकल सकूं, तो अपना और वैशाली का भस्म हो जाना ही श्रेयस्कर मानता हूं। नित्य के आत्मघात के बजाय, एक बार सत्य के हुताशन की आहुति हो जाना ही मुझे अपने और वैशाली के लिए अधिक योग्य लगता है।'

....और सहसा ही ज्वालामुखी के विस्फोट-सी एक आवाज उठी :

'भंतेगण, सावधान, गणनाथ सुनें, मैं ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान को वैशाली के लिए खतरनाक मानता हूं! वे यदि वैशाली में रहेंगे, तो वैशाली का सर्वनाश निश्चित है।'

'भंतेगण, सुनें। वर्द्धमान की आत्मा वैशाली की सीमाओं से कभी की निष्क्रांत हो चुकी। आप निश्चिंत रहें, अब देर नहीं, कि उसका शरीर भी वैशाली के सीमांतों से सदा को अभिनिष्क्रमण कर जाएगा। पर सावधान भंतेगण, एक बात कहे जाता हूं, कि वैशाली से निर्वासित हो कर, उसका यह गणपुत्र और राजपुत्र उसके लिए और भी अधिक खतरनाक हो सकता है।.... पर आप चाहें भी, तो अब उसे अपनी सीमाओं में बांध कर नहीं रख सकते। जानें, कि इस क्षण के बाद वर्द्धमान किसी का नहीं, अपना तक नहीं! वह अपने ही से निष्क्रांत है।....'

'....और भंतेगण, सुनें। जाने से पहले मैं वैशाली की राज-लक्ष्मी को त्रैलोक्येश्वर जिनेंद्र के चरणों में अर्पित किए जा रहा हूं। उन परम सत्ताधीश के हाथों में वैशाली का भाग्य सौंपे जा रहा हूं। उनकी इच्छा होगी तो एक दिन वैशाली का यह गणपुत्र ऐसे धर्म-साम्राज्य की नींव डालेगा, जो आज तक इतिहास में न भूतो न भविष्यति रहा है। मां वैशाली अनंतों में जयवंत हो....!'

और मेरे अनुसरण में सहस्रों कण्ठों से गूंजा :

'मां वैशाली अनंतों में जयवंत हो, लिच्छवि-कुलसूर्य महावीर अनंतों में जयवंत हों....!'

....और मैंने पीछे लौट कर भगवान वृषभनाथ के चरणों में साष्टांग प्रणिपात किया। अपने मुकुट, कुंडल, केयूर, रत्नहार उतार कर, त्रैलोक्येश्वर प्रभु के चरणों में अर्पित कर दिए। और, चहुं ओर घूम कर जनगण को हाथ जोड़, सर नवां कर बारंबार प्रणाम किया।....और तत्काल रोहिणी मामी के कंधे पर हाथ रख कर, मैं संथागार के अनेक सरणिबद्ध स्तंभों और द्वारों को पार करता चला गया।....

....संथागार से बाहर आ कर उसके सर्वोपरि सोपान पर खड़े हो कर जो जनगण का प्रेम-पारावार उमड़ता देखा, जो जयकारों का हिल्लोलन सुना, उसमें डूब जाने के सिवाय और कुछ शक्य ही नहीं था।.... हमारा रथ कब और कैसे उस महाप्रवाह में तैरता हुआ, महानायक सिंहभद्र के महालय पर पहुंच सका, सो पता ही न चल सका। ❖

---

हम कई बार अर्थव्यवस्था को तो कोसते हैं, लेकिन उस प्रौद्योगिकी को अपनाना चाहते हैं जो उस असंतोषजनक अर्थव्यवस्था का आधार है। गांधीजी ने जब उत्पादन के देशी तरीकों की बात की तो उनका तात्पर्य यह नहीं था कि भारत को एक आर्थिक घाटे से कमजोर और पिछड़ा हुआ रखा जाए—बल्कि वे तो हिंदुस्तान की 'रंक-दशा' को लेकर सर्वाधिक दुखी थे। लेकिन, उनका मंतव्य यही था कि भारत की अपनी मूल्य चेतना से निःसृत होती तकनीकी का विकास किया जाना चाहिए जो अहिंसा के व्यवहार को पुष्ट करने वाली हो अर्थात् जिसमें हम मनुष्य और मानवेतर जगत के बीच भी एक मर्यादाबोध बनाए रख सकें। क्योंकि उसके बिना मनुष्य के मनुष्य कहलाने का कोई नैतिक आधार नहीं बचता।

**—नंदकिशोर आचार्य**

# रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताएं

•

जहां रहते हैं सबसे दीन,
वहीं तुम रखते अपने चरण,
कि जो हैं सबसे साधनहीन,
उन्हीं का करते हो तुम वरण—
कि जो रहते सबसे पीछे,
सर्वहारा जो दीन-मलीन।

पहुंचता मेरा नहीं प्रणाम,
कहीं रह जाता है अधबीच,
जहां रखते तुम अपने चरण,
न कर पाता उनका अनुसरण।

उतर तुम तो जाते हो वहां,
जहां हैं दीनों में भी दीन,
अरे, तुम रहते उनके बीच,
सर्वहारा जो साधनहीन।

वहां तक पहुंच न पाता मैं,
अधर में ही रह जाता मैं।
कि आड़े अहंकार आता,
तोड़ देता तुमसे नाता।

कि धारण करके सादे वसन,
छोड़ कर सारे आभूषण,
वहीं तुम करते हो विचरण,
जहां पर हैं दुखियारे जन!

और मैं धन-साधन से घिरा,
चाहता लेना तुमको फिरा,
अरे, मैं यह जाता हूं भूल,
न उनसे सकता तुमको छीन!

कि जो हैं सबसे दीन-मलीन,
अरे, तुम रहते उनके बीच,
सर्वहारा जो साधनहीन।

•

वासनाएं ललचातीं मुझे,
खींचती हैं वे अपनी ओर,
तुम्हीं, पर, करके कृपा कठोर
काट देते हो उनकी डोर।
दिया तुमने नभ, यह आलोक,
दिए हैं मुझको तन-मन-प्राण,
बिना मांगे इतना-कुछ दिया,
दिए हैं तुमने अनुपम दान।
मुझे लिप्सा ले कहीं न लील,
सदा रक्खा है इसका ध्यान।
भूल जाता हूं तुमको कभी,
कभी फिर जाता हूं मैं जाग,
कृपा के लिए तुम्हारी ओर,
चला आता हूं मैं फिर भाग।
किंतु हो तुम कितने निष्ठुर,
अचानक हो रहते हो ओट,
जानता हूं, पर, यह भी तो
अकारण नहीं दे रहे चोट!
चाहते रहूं नहीं निरुपाय,
चाहते बल मुझमें आ जाए,
पूर्णतर बनूं, रहूं ना दीन,
करें ना मुझे विलास मलीन।
इसी से हो जाते हो ओट,
मुझे तुम देकर एक कचोट।
तपाते रहते हो तुम मुझे
बचाते रहते हो तुम मुझे।

•

मन तुमको ही चाहे!
उलझा धन-जन में
यह जानूं, पर, भूलेगा काहे!
अंतर में हो अंतर्यामी—
मुझे जानते बढ़ कर मुझसे,
तुम हो ऐसे स्वामी,
हर सुख-दुख, स्मृति-विस्तृति में,
ज्ञात तुम्हें मम मन,
वह चाहे तो तुमको चाहे,
मन तुमको ही चाहे।
अहंकार को छोड़ न पाता,
सिर पर रख कर उसे घुमाता,
पर, 'छोड़ूं तो उसे, बचूं मैं'
यह मन में दुहराता।

मन तुमको ही चाहे,
वह भूलेगा काहे!

जो मेरा है, कब तुम उसको
कर लोगे बस अपना,
हाथ बढ़ा कर सब ले लोगे,
यही आस, यह सपना!

मन-ही-मन मन तुम्हें चाहता,
भूलेगा वह काहे!
मन तुमको ही चाहे!

अनुवाद : **प्रयाग शुक्ल**

---

7 मई, 2011 को कविगुरु रवींद्रनाथ ठाकुर का 151वां जन्म वर्ष शुरू होगा।
बीता वर्ष 150वीं जयंती के रूप में विश्वभर में मनाया गया; कविगुरु का पावन स्मरण करते हुए.

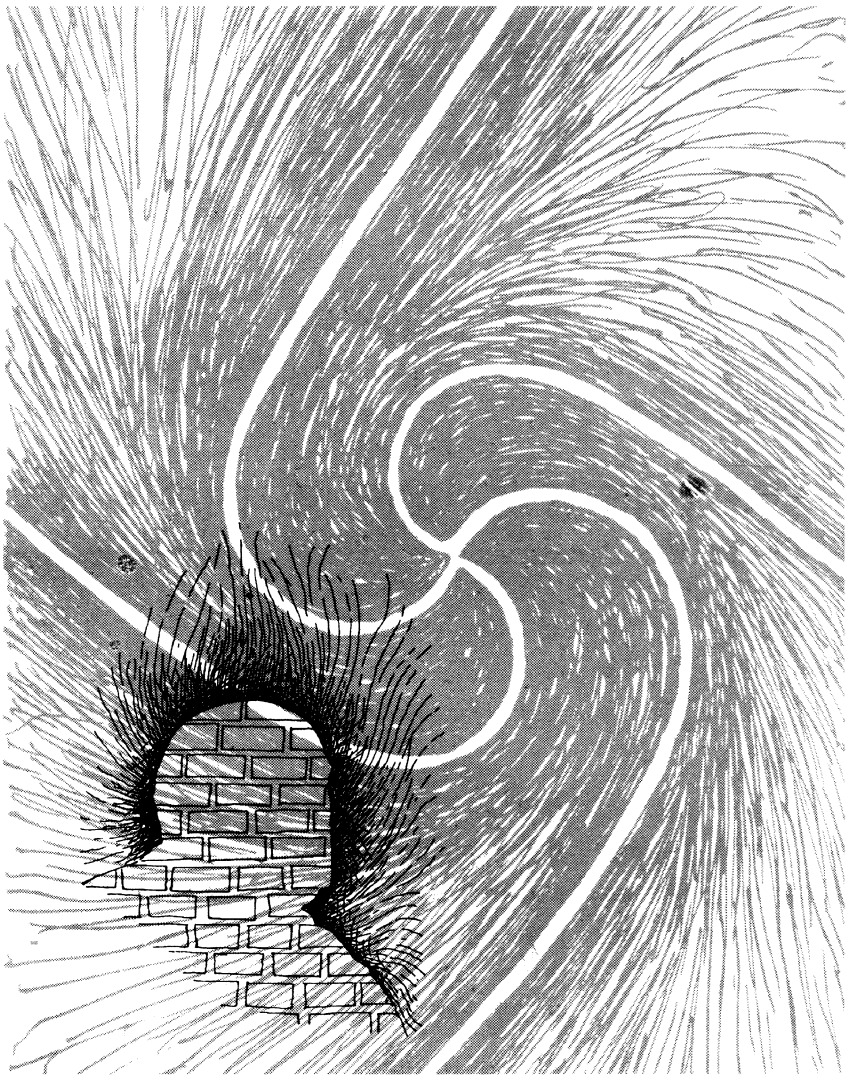

# शीलन

आज का विज्ञान हमारी अकर्मण्यता के लिए प्रमाण-पत्र देने लगा है; क्योंकि अकेले उसी को अपनी शोधशाला में बैठ कर इस बात का निर्णय करने का अधिकार है कि समाज-रूपी शरीर-यंत्र में कौन-सा कार्य इंद्रिय-संबंधी नियमों के अनुसार हो रहा है और कौन-सा उसके विरुद्ध। इसका आशय तो यह हुआ कि इस बात का निर्णय हर आदमी स्वयं अपनी बुद्धि और अंतरात्मा से पूछ कर नहीं कर सकता; यद्यपि सत्य यह है कि उसकी बुद्धि और अंतरात्मा का निर्णय कहीं अधिक सच्चा और तात्कालिक होता है।

—लियो टॉल्सटॉय

न्याय व समतापूर्ण समाज व्यवस्था के लिए सबसे पहला काम जिलों में बसने वाले भिन्न-भिन्न किस्म के कारीगरों तथा उत्पादकों की पर्याप्त जनगणना करने व उनके बारे में संपूर्ण जानकारी प्राप्त करने का है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकेगा कि पूरे समय की या आंशिक समय की रोजगारी का निर्माण कितनी तादाद में करना होगा। ऐसे 'सेंसस' से ही रोजगारी-निर्माण का ठीक-ठीक अंदाजा लगेगा और उसी के आधार पर कुटीर तथा लघु औद्योगिक गतिविधियों के लिए आवश्यक आयोजन तैयार हो सकेगा।

# गरीबी : आय के 'गज' से न नापी जाए

इला र. भट्ट

आज सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करना सरकार के सिर आ गया है। यह औद्योगिक समाज की एक देन है। समाज की ओर से मिलने वाली सुरक्षा तथा पारंपरिक सेवाएं समय के साथ कम होती जा रही हैं। औद्योगिकीकरण तथा शहरीकरण के बढ़ने से रोजगारी खिसक कर शहरों की ओर जा रही है। गांव या घर से हट कर रोजगारी अब कारखानों और कचहरियों में जा रही है। स्वरोजगारी के बदले, अब सिर पर एक कोई मालिक बन कर सवार है। कमाई का बहुत बड़ा हिस्सा मुनाफे के रूप में मालिक की जेब में जाता है। नौकरी-चाकरी करने वालों की मेहनत तथा बुद्धि के बूते कुछ चंद मालिक अमीर भी होते जा रहे हैं।

सरकार इसी किस्म का शोषण रोकने के लिए श्रम कानून बनाती है। न्यूनतम वेतन मिलना चाहिए, साप्ताहिक छुट्टी, बोनस आदि कायदे से मिलने चाहिए, अन्यथा अपराध माना जाएगा। इसके अलावा काम करने के दौरान दुर्घटना घट जाए, व्यवसाय के चलते कोई बीमारी लागू हो जाए, उम्र हो जाने पर सेवा निवृत्ति मिले, बीमारी-तिमारी आ जाए, प्रसूति आए, बच्चों की देख-भाल करनी पड़े, महंगाई बढ़ती जाए—इन तमाम मौकों पर आ पड़ने वाली परेशानियों तथा खर्चे के बोझ से निबटने के लिए नौकरी करने वाले आदमी को मुआवजे के बदले पैसे मिलते हैं। यहां तक कि मृत्यु हो जाने पर भी परिवार के लोगों को मुआवजा मिलता है। मालिक को चाहिए कि जरूरी तौर पर वह कर्मचारी को ये सब दे, कानूनी तौर पर भी ये अनिवार्य है। ऐसे सुरक्षित कर्मचारियों के जीवन में सुख-शांति रहती है। ऐसे परिवारों के पास पक्के घर होते हैं। इनके बच्चों को अच्छी शिक्षा मिल सकती है और भविष्य में वे अच्छी नौकरियां पा सकते हैं, ऊंचे ओहदों पर पहुंच सकते हैं। पर, ऐसी सुरक्षा वाले कर्मचारी दुर्भाग्य से हमारे देश में बहुत कम प्रतिशत में हैं।

देश में कुल रोजगार करने वाले लोगों में से बहुत बड़ा प्रतिशत तो अभी इस किस्म की सामाजिक सुरक्षा से वंचित ही है। इन तक अभी कोई अनिवार्य कानून पहुंचा ही नहीं है। देश की समृद्धि में अनुमानतः 89 प्रतिशत योगदान जिन काम-काजी लोगों का है, उनके

सिर पर कोई निश्चित मालिक नहीं हैं। ये लोग अर्थ-तंत्र के असंगठित वर्ग के कामगार माने जाते हैं। मालिक के न होने से श्रम कानून लागू ही नहीं हो पाता है। इसलिए सुरक्षा प्रदान करने वाले लाभ भी इनको नहीं मिल पाते हैं।

हम यह देखें कि इन 89 प्रतिशत काम-काजी लोगों के हालात कैसे हैं? ये लोग अधिकतर ग्रामीण हैं। गरीब हैं, निरक्षर हैं और ठेकेदारी प्रथा (कांट्रेक्ट प्रणाली) के शिकार हैं, कर्जदार हैं। काम प्राप्त करने के लिए इनको स्थानांतरण करना पड़ता है। ये कई बीमारियों का शिकार भी होते हैं। स्त्रियों की एक के बाद एक लगातार जचगियाँ होती हैं। जचगी में माताओं की मृत्यु तादाद काफी अधिक है। नवजात शिशुओं की मृत्यु तादाद भी बहुत अधिक है। उनके आर्थिक योगदान को देखते हुए वे सहज ही सामाजिक सुरक्षा के हकदार हो जाते हैं।

उनकी कमजोर आर्थिक-सामाजिक स्थिति को देखते हुए उन्हें उचित सामाजिक सुरक्षा सेवाओं की आवश्यकता भी विशेष रूप से है—यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है। सामाजिक सुरक्षा कोई सिर्फ दयाभाव से प्राप्त किया जाने वाला राहत कार्यक्रम नहीं है, बल्कि सामाजिक सुरक्षा का प्रबंध गरीब श्रमजीवियों का मानवीय अधिकार माना जाना चाहिए। बीमारी के दौरान उचित इलाज, उस दौरान जीवन निर्वाह का आश्वासन, जीवन स्तर को बनाए रखने में कम पड़ने वाली आय की पूर्ति—हर व्यक्ति को निश्चित रूप से इतना तो मिलना ही चाहिए और फिर स्त्रियों के मामले में तो उसके मातृत्व की सुरक्षा भी उतने ही महत्त्वपूर्ण अधिकार का मसला है। गरीब व्यक्ति की मूर्च्छित शक्ति, सुषुप्त सामर्थ्य इस तरह की सुविधाओं की घोषणा के बावजूद आज देश की एक प्रचंड समस्या है और इस के खिलाफ लड़ी जाने वाली लड़ाई पूरे वेग से आगे बढ़ रही हो—ऐसा भी कुछ स्पष्ट रूप से नजर नहीं आ रहा है।

हकीकत में आय के 'गज' से गरीबी को नापने में कुछेक कठिनाइयां भी निहित हैं। गरीबी में व्यक्ति की स्वीकार करने लायक निम्नतम स्तर की जिंदगी जीने की असमर्थता ही उजागर होती है (कहने का आशय यह है कि निचले से निचले स्तर की जिंदगी भी आदमी जी नहीं पाता है) और व्यक्ति की इस सामर्थ्य के करुण अभाव का नाप, आमतौर पर जैसा होता है, केवल उसकी निजी आय से नहीं निकाला जा सकता। व्यक्ति की आर्थिक सुविधा कई बातों पर निर्भर करती है और आय उनमें से सिर्फ एक ही चीज है। गरीबी के स्वरूप को बेहतर ढंग से समझने के लिए व्यक्ति के बुनियादी सामर्थ्य को देखना होगा। यह बुनियादी सामर्थ्य है—पर्याप्त पोषण प्राप्त करने की सामर्थ्य, होने से रोकी जा सकने वाली बीमारियों से वाजिब मात्रा में मुक्त रहने की सामर्थ्य, अकाल मृत्यु से बचने की सामर्थ्य, औसतन आवश्यक कपड़ों की सामर्थ्य और सिर पर छत प्राप्त करने की, वाजिब आश्रय स्थान (घर) प्राप्त करने की सामर्थ्य। ऐसी न्यूनतम स्तर की सुविधाओं से वंचित आबादी भारत में काफी बड़ी है और इसकी तादाद का पता लगाना बिल्कुल भी मुश्किल नहीं है।

विश्वप्रसिद्ध अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन के मुताबिक आय में बढ़ोतरी करके उसके माध्यम से गरीबी हटाने का तरीका एक परोक्ष-अप्रत्यक्ष तरीका है। किसी देश की 'बुद्धि-दर' तेज होने पर भी गरीबी की समस्या पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कहने का मतलब यह हुआ कि 'बुद्धि-दर' तेज हो तो भी गरीबी में कोई अंतर नहीं आता, या यों कहें कि इससे गरीबी की समस्या का हल हो ही जाएगा—यह कतई आवश्यक नहीं है। क्योंकि इसके परिणामस्वरूप या तो आय के बंटवारे की व्यवस्था अधिक खराब हो जाती है, या कुल राष्ट्रीय उत्पादन की बढ़ोतरी की तुलना में और उसके साथ-साथ (लोगों की) बुनियादी सामर्थ्य के लिए आवश्यक चीजों की प्राप्ति तथा उपयोग बढ़ते नहीं हैं।

भारत की गरीबी को दूर करने के लिए तत्काल और निर्णायक कदम सार्वजनिक-सामाजिक स्तर पर उठाया जाना आवश्यक है। आज की सबसे अहम समस्या लोगों को पर्याप्त पोषण मिलने की, शिक्षा प्राप्त करने की, स्वस्थ एवं सुरक्षित रहने की तथा बुनियादी ताकत पाने की स्वतंत्रता की है और करोड़ों भारतवासियों ने परिवर्तन की अपनी अदम्य इच्छा को भी अभिव्यक्त किया है। एक तरह से देखा जाए तो वे आज विकास के वैकल्पिक 'मॉडेल' की मांग कर रहे हैं। आज जिस तरह का विकास हमारे यहां हो रहा है उसके परिणाम में असमानता बढ़ी है

तथा अन्याय एवं शोषण के खिलाफ उनकी जागृति भी। संसार भर के लोग भी आज सिर उठा रहे हैं। वे अपनी लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को खुले तौर पर व्यक्त कर रहे हैं और शांति, सुरक्षा तथा गौरवयुक्त जिंदगी की भी मांग कर रहे हैं।

अतः लक्ष्यसिद्धि के लिए आवश्यक विकास में आम जनता के कौशल, ताकत तथा उसकी रचनात्मक सामर्थ्य को सक्रिय रूप से जोत देने की जरूरत है। ऐसे नए अभिगम की जरूरत है जिसमें विकास व्यूह की क्षतियों को दूर करके, उसे ऐसी एक नई दिशा देने पर जोर दिया जाए, जिससे गरीबी की तात्कालिक तथा बेहद जरूरी आवश्यकताओं को प्राथमिकता मिले। सबको न्यूनतम वेतन मिल सके, ऐसी रोजगारी के अवसर, आजीविका एवं कौशल प्राप्त करने के पर्याप्त साधनों का सुलभ होना जरूरी है। पर्याप्त खाना, शिक्षा, आरोग्य तथा बच्चों की देख-भाल एवं घर जैसी दूसरी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति इसमें निहित है। काम करने के अधिकार की 'गारंटी', सार्वजनिक कामों के लिए निर्धारित खर्च का कम से कम आधा हिस्सा ग्रामीण क्षेत्र के हित के लिए सुरक्षित रखने का मामला, स्त्रियों की रोजगारी तथा सुख-सुविधाओं से संबंधित विकास पर जोर और फिर जिसमें अधिक से अधिक मजदूरों को काम मिल सके—ऐसी तकनीक का उपयोग करके आम जनता के इस्तेमाल की चीजों तथा सेवा उत्पन्न करने वाले ग्रामीण तथा लघु उद्योगों को महत्त्व जैसे मामलों में गरीब तथा सामान्य लोगों के प्रति चिंता की झलक मिलनी चाहिए।

उच्च स्तरीय विकास से रोजगारी के निर्माण को गति नहीं मिली है, इसके प्रमाण प्रभूत मात्रा में सुलभ हैं। हकीकत में उच्च स्तरीय विकास के चलते अधिकतर क्षेत्रों में रोजगारी का निर्माण कम हुआ है। इसलिए विशाल जन समुदाय को (1) रोजगारी निर्माण, (2) आय निर्माण तथा (3) सामाजिक सुरक्षा देकर उन्हें विकास प्रक्रिया के साथ एकरूप कर देने की जरूरत है। इससे राजनीतिक तथा सामाजिक निर्भरता तथा भारत की एक राष्ट्र की हैसियत का आधार निर्मित होगा।

गरीबी में लिथड़े परिवारों को उनका 'उत्पादक गतिविधियों' तथा उत्पादक के रूप में उसके दर्जे की दृष्टि से उनकी अकुशल, अर्धकुशल तथा बेहद कुशल श्रमशक्ति को पहचानना होगा। फिर उनको उत्पादक कामों में लगाना होगा। उनकी उत्पादकता को (1) कौशल निर्माण तथा कौशल की अभिवृद्धि के माध्यम से (2) पर्याप्त तथा निर्भर करने लायक कर्ज माध्यम से (3) तकनीकी की अभिवृद्धि के माध्यम से (4) संस्था के ढांचे की रचना और उसके लिए आवश्यक प्रोत्साहन के माध्यम से (5) मूल्य वृद्धि के लिए वाजिब एवं न्यायिक पुरस्कार देकर ऊपर उठाना होगा।

न्याय व समतापूर्ण समाज व्यवस्था के लिए सबसे पहला काम जिलों में बसने वाले भिन्न-भिन्न किस्म के कारीगरों तथा उत्पादकों की पर्याप्त जनगणना करने व उनके बारे में संपूर्ण जानकारी प्राप्त करने का है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकेगा कि पूरे समय की या आंशिक समय की रोजगारी का निर्माण कितनी तादाद में करना होगा। ऐसे 'सेंसस' से ही रोजगारी-निर्माण का ठीक-ठीक अंदाजा लगेगा और उसी के आधार पर कुटीर तथा लघु औद्योगिक गतिविधियों के लिए आवश्यक आयोजन तैयार हो सकेगा।

दूसरा एक और बड़ा काम कारीगरों तथा उत्पादकों के समूहों को पहचानने, उनको दर्ज करने और उनमें से प्रत्येक को रोजगारी कार्ड देने का होना चाहिए। इस कार्ड में उस व्यक्ति की रोजगारी तथा उसका स्थान दर्शाने होंगे। इसमें (अ) उनका व्यवसाय (ब) उप-व्यवसाय तथा उस व्यक्ति को पूरे साल के लिए काम मिलता है या मौसम के मुताबिक मिलता है—यह भी बताना होगा। रोजगारी कार्ड में, कार्डधारी व्यक्ति पूरे समय के लिए काम करता है या आंशिक समय के लिए—यह भी दर्ज किया जाना चाहिए। इसी के साथ-साथ यह बताना होगा कि वह किस किस्म का मौसमी काम करता है।

फसल की लुनाई के बाद खेती के ढेरों काम मौसमी हैं और इसी प्रकार जंगल की पैदावार को बीन कर इकट्ठा करने वालों का काम या उनका धंधा मौसमी, यानी कि एक निश्चित मौसम के दौरान ही चलता है। अगर हम हर भारतीय नागरिक को मतदाता के रूप में दर्ज कर सकते हैं और उसे अपनी जनतांत्रिक राजनीतिक

प्रणाली में साझेदार बनाते हैं, तब हर कारीगर-कामगार-उत्पादक को रोजगारी कार्ड न दे पाने की, या न देने की कोई वजह नहीं है। इस कार्ड में इसके धारक व्यक्ति के व्यवसाय (काम), स्थान आदि के बारे में पूरी जानकारी रहेगी। फिर लगातार बढ़ती जा रही कीमतों की वजह से गरीब जनता के उपयोग में कटौती न हो और वे लोग पूरी तथा पर्याप्त रोजी पा सकने में समर्थ हो सकें—इसके लिए कामगार-कारीगर-उत्पादक के दर्जे को सुरक्षा प्रदान करना भी जरूरी है।

उत्पादन तथा प्रोत्साहन के लिए कामगार-कारीगर-उत्पादक अपने-अपने संगठन बना कर संगठित हों। इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। कारीगरों के समूह, संघ या कॉर्पोरेशन जैसी उत्पादक संस्थाओं को चाहिए कि वे अपने कारीगरों की समस्याओं तथा परेशानियों को समझने तथा उनको हल करने के लिए मान्यता दें। इससे रोजगारी निर्माण के लिए बनी उत्पादन करने वाली संस्थाओं के काम को दिशा देने के लिए आवश्यक खुराक मिलेगी। इसके अलावा ऐसी असंख्य नई उत्पादक संस्थाएं तथा सेवा संस्थाएं भी खड़ी करनी चाहिए। ये संस्थाएं, अलग-अलग राज्यों के अनजाने सामान्य, कामगार-कारीगर-उत्पादकों की आवश्यकताओं को पूरा करें। असंगठित क्षेत्र में आर्थिक गतिविधियां करने वाले कामगारों की हैसियत को मान्यता देने तथा प्रोत्साहित करने की प्रक्रिया को गतिशील बनाने के लिए सरकार उनके संचालन में वैधानिक तथा आर्थिक सहायता दे।

गरीबी निवारण में स्त्रियों की रोजगारी के मामले का विशेष रूप से उल्लेख करना बहुत महत्त्व का है। गरीबी निवारण के कम अवधि तथा लंबी अवधि—दोनों किस्म के प्रयत्नों की सफलता के लिए स्त्रियों का योगदान अनिवार्य रूप से महत्त्वपूर्ण है। हकीकतों तथा आंकड़ों से यह साबित हो चुका है कि गरीब से गरीब परिवारों को भी अपने महिला सदस्यों की अर्थोपार्जन की गतिविधियों पर बड़े पैमाने पर निर्भर करना पड़ता है। अतः स्त्रियों को उत्पादक साधन अधिक सुलभ हों, उन साधनों की मालिकी उन्हें प्राप्त हो। यह माना जाता रहा है कि परिवार की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने में स्त्री की कमाई का हिस्सा पुरुष की कमाई से बड़ा होता है। इसीलिए स्त्रियों की आय बढ़ने की स्थिति में परिवार के बच्चों के स्वास्थ्य तथा पोषण के मामले में भी सुधार होगा। अतः कमाई करने की स्त्री की शक्ति की बढ़ोतरी से शिक्षा, स्वास्थ्य तथा परिवार नियोजन सेवाओं की बढ़ोतरी भी संभव है। ये सेवाएं—यानी शिक्षा, आरोग्य तथा परिवार नियोजन से संबंधित सेवाएं—स्त्री के अपने स्वास्थ्य की दृष्टि से ही नहीं, लेकिन बेहतर जीवन का आनंद उठाने की परिवार की सामर्थ्य या उत्पादन की ताकत बढ़ाने में भी अहम भूमिका अदा करती हैं।

अतः यह जरूरी है कि स्त्रियों के काम को मान्यता प्रदान करके उनके काम को अधिक से अधिक नजर में आ सकने लायक बनाने तथा उनके काम को 'दर्ज' करने के लिए ठोस कदम उठाए जाएं। इसी प्रकार भौतिक तथा बौद्धिक—दोनों किस्म के साधनों पर उनका नियंत्रण तथा उन साधनों का इफरात से इस्तेमाल कर सकने की सुगमता को बढ़ाने में बाधक बनने वाले तत्त्वों को कानूनी तथा सही कदम उठा कर दूर किया जाए। घर में बैठ कर किए जाने वाले काम तथा स्त्रियों की ओर से मुफ्त में किए जाने वाले पारिवारिक कामों को मान्यता तथा उसका वाजिब मुआवजा देने के लिए वेतन तथा सामाजिक सुरक्षा तय करने के मानदंड तथा प्रक्रियाओं की समीक्षा करके उनको तर्कसंगत बनाया जाए।

जीवन को टिकाए रखने के लिए आवश्यक खाना, घास-चारा, ईंधन, पानी तथा कच्चा माल जैसी चीजों के मामले में स्त्रियों को ही सबसे अधिक चिंता रहती है। अतः प्राकृतिक साधन-संपदा से संबंधित पुनर्निर्माण के काम में स्त्रियों का नेतृत्व स्वीकारा जाए और इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जाए। उन्हें संगठित भी किया जाए। साथ ही स्त्रियों को सहकारी संस्थाओं, कामगार-संघों तथा दूसरी आर्थिक तथा राजनीतिक प्रजातांत्रिक संस्थाओं के साथ जोड़ने के लिए संगठित होने को प्रोत्साहित किया जाए।

स्त्रियां सांस्कृतिक शक्ति की पहरुआ हैं। उन्हें खुद अपने विकास के लिए तथा मुक्त, सर्जनात्मक, सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के आविर्भाव के लिए पूरे तौर पर शक्ति संपन्न होने में सहायता दी जानी चाहिए।

❖

**वर्षीतप विशेष**
**अक्षय तृतीया : 6 मई**

*स्वभावतः हर कोई व्यक्ति तेजस्वी बनना चाहता है। तैजस-शरीर को साधने का उपाय है—तप। भगवान ऋषभ देव ने बारह माह तक निर्जल तपस्या की। भगवान महावीर ने छ माह तक चौविहार तप किया। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि उपवास और लंबी तपश्चर्या 'तैजस-शरीर' को सक्रिय बनाती है। जीवन चलाने के लिए भोजन जरूरी है, पर तेजस्वी रहने के लिए निराहार रहना भी आवश्यक है।*

# वर्षीतप : स्वर्णिम सूर्योदय

मुनि आनंदकुमार 'कालू'

जैन साधना पद्धति में तपस्या का विशिष्ट स्थान है। तपस्या ताप का शमन करने वाली, पापों को नष्ट करने वाली एवं मन को निर्मल बनाने वाली महत्त्वपूर्ण औषधि है। जिस प्रकार जंगल को जलाने की सामर्थ्य दावाग्नि के सिवाय किसी की नहीं होती और मेघवर्षा के बिना जंगल की आग को शांत नहीं किया जा सकता तथा हवा के अतिरिक्त कोई भी ऐसा शक्तिशाली माध्यम नहीं कि जो बादलों के समूह को हटा सके, वैसे ही तप रूपी मुद्गर के अलावा ऐसा कोई हथियार नहीं है जो कर्म-कंटक का नाश कर सके।

उत्तराध्ययन सूत्र में दो प्रकार के तप बतलाए गए हैं—बाह्य और आभ्यंतर। दोनों प्रकार के ये तप षड्विध रूप में वर्णित हैं। बाह्य तप के छ भेदों में प्रथम चार आहार संयम से युक्त हैं। आहार के भी चार प्रकार निर्दिष्ट हैं—(1) अशन, (2) पान, (3) खादिम और (4) स्वादिम।

सामान्यतया चारों आहारों का परित्याग करना तप कहलाता है। तीर्थंकरों की सभी तपस्याएं चौविहार होती रही हैं। चाहे एक बेले का तप हो या फिर वर्षीतप हो। अन्य साधक चौविहार एवं तिविहार—दोनों प्रकार की तपस्या के द्वारा अपनी सहिष्णुता को पुष्टि प्रदान करते हैं। जैन इतिहास-धरा पर तपस्या-पादप की अनेक शाखाएं विकसित हुई हैं। यहां कुछेक का जिक्र अभीष्ट होगा।

## आछ के आगार से होने वाला तप

छाछ को उबालने के बाद ऊपर निथर जाने वाला पानी 'आछ' कहलाता है। छाछ नीचे रह जाती है और केवल नीला पानी ऊपर आ जाता है। उसे छान कर पीने वाले की तपस्या 'आछ' के आधार पर की जाने वाली तपस्या कही जाती है। इस तपस्या में 'आछ' के अतिरिक्त और किसी चीज का सेवन नहीं किया जाता।

## गुणरत्न संवत्सर तप

इसमें पहले महीने में एकांतर उपवास, दूसरे महीने में बेले-बेले, तीसरे महीने में तेले-तेले—ऐसा करते-करते सोलहवें माह में सोलह का तप किया जाता है। इस तपस्या में तप के दिन 407 तथा पारणे के दिन 73 होते हैं। कुल 480 दिनों का यह तप 'गुणरत्न संवत्सर तप' कहलाता है।

## रत्नावली तप

इस तप में उपवास, बेला, तेला करके फिर आठ

बेले किए जाते हैं। उसके बाद उपवास से शुरू करके सोलह तक तप किया जाता है। फिर चौंतीस बेले किए जाते हैं। बाद में सोलह, पंद्रह—यों उतरते हुए उपवास तक आ जाते हैं। फिर आठ बेले किए जाते हैं। अंत में तेला, बेला और उपवास करके इसे संपन्न किया जाता है। इस तप में 472 दिन लगते हैं। 88 दिन पारणे के होते हैं। 384 दिन तपस्या के होते हैं। पारणे की विधि के भेद से इस तप की चार परिपाटी हो जाती है। एक विधि में पारणे में दूध, दही आदि निगय का सेवन किया जाता है। दूसरी विधि में विगय का परिहार किया जाता है, सिर्फ लेप लगा हुआ लिया जा सकता है। तीसरी विधि में लेप लगा हुआ भी नहीं ले सकते। छाछ, राब, बिना छोंक की सब्जी, दाल आदि का सेवन किया जा सकता है। चौथी विधि में आयंबिल करना होता है। इस प्रकार पारणे के भेद से इसके चार भेद हो जाते हैं।

## कनकावली तप

यह तप रत्नावली तप जैसा ही है। इसमें आठ-आठ बेले और चौंतीस तेले किए जाते हैं। इस तप में 17 मास और 12 दिन लगते हैं। 88 दिन पारणे के होते हैं। इस प्रकार कुल 434 दिन तप के होते हैं। पारणे के भेद से इस तप की भी उपर्युक्त चार परिपाटी हो जाती है।

## मुक्तावली तप

इसमें तपस्या करने वाला एक से सोलह तक चढ़ता है, किंतु बीच में एक-एक उपवास करता हुआ चढ़ता है। जैसे बेला करके पारणा किया, फिर उपवास किया, फिर तेला किया। इस प्रकार हर तपस्या के बाद उपवास करके आगे तप करता हुआ सोलह तक चढ़ता है। फिर उपवास करके, उसी क्रम में पद्रंह, चौदह करता हुआ उतरता है। इस तप में 11 माह 15 दिन लगते हैं। 59 दिन पारणे के एवं कुल 286 दिन तपस्या के होते हैं। पारणे के भेद से इसकी भी चार परिपाटी है।

## लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप

जैसे क्रीड़ारत सिंह चलता हुआ हर दो-चार कदम बाद पीछे की ओर देखता है और फिर आगे चलता है। ठीक इस क्रम से की जाने वाली तपस्या को 'लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप' कहते हैं। इस तप में उपवास करके, बेला करना होता है, फिर उपवास करके तेला किया जाता है, फिर बेला करके, चोला करना होता है। इसी क्रम से नौ तक चढ़ कर पुनः उपवास तक उतरना होता है। इस तप में छ महीने और सात दिन लगते हैं। 33 दिन पारणे के एवं कुल 154 दिन तप के होते हैं। पारणे के भेद से इसकी भी चार परिपाटी होती है।

## महासिंह निष्क्रीड़ित तप

इसकी विधि भी लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप की तरह है। अंतर सिर्फ इतना ही है कि उसमें नौ तक चढ़ना होता है और इसमें सोलह तक चढ़ना होता है। इस तप में 18 महीने और 18 दिन लगते हैं, जिसमें 61 दिन पारणे के एवं कुल 497 दिन तप के होते हैं। पारणे के भेद से इसकी भी चार परिपाटी होती है।

## आयंबिल वर्धमान तप

इसमें एक आयंबिल से क्रमशः चढ़ते-चढ़ते एक सौ आठ तक चढ़ना होता है। इसका क्रम एक आयंबिल और एक उपवास होता है। फिर दो आयंबिल, एक उपवास। फिर तीन आयंबिल, एक उपवास। इस प्रकार प्रत्येक संख्या की समाप्ति पर एक उपवास करके अगली संख्या के आयंबिल प्रारंभ कर दिए जाते हैं। आयंबिल में सिर्फ एक धान की बनी वस्तु तथा जल के सिवाय कुछ नहीं लिया जाता। इसमें नमक भी नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार 'लघु सर्वतो भद्र तप', 'महासर्वतो भद्र तप', 'भद्रोतर प्रतिमा तप' आदि विविध प्रकार के तप आगमों में वर्णित हैं। अनेक साधकों ने यथा-समय, यथारुचि, यथानुकूलता अपने मजबूत मनोबल का परिचय देते हुए तपस्या-कल्पवृक्ष के मधुर फलों का रसास्वादन किया है।

तप-शृंखला में सर्वाधिक प्रचलित तपस्या—जिसे वर्षीतप कहा जाता है—वर्तमान में बहुत लोकप्रियता अर्जित किए हुए है। इस तप का संबंध आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से है।

## ऋषभ-अवतरण

भगवान ऋषभ का अवतरण उस समय हुआ जब अवसर्पिणी काल के तीसरे विभाग का उत्तरार्ध चल रहा था। यौगलिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी। कुलकरों द्वारा प्रदत्त व्यवस्थाएं अप्रभावी बनने लगी थीं। नित-नई उलझनें द्रौपदी के चीर की भांति प्रलंब बनती जा रही थीं।

'हकार', 'मक्कार' और 'धिक्कार'—तीनों नीतियों का प्रभाव अल्पतम रह गया था। नाभि नाम के तत्कालीन कुलकर असमंजस की स्थिति में थे। समस्याओं के समाधान का पथ नजर नहीं आ रहा था।

ऐसे समय में चैत्र कृष्णा अष्टमी की मध्यरात्रि में माता मरुदेवी ने एक युगल को जन्म दिया। उस क्षण समूचा क्षेत्र पुलकित हो उठा। सब जीवों ने अज्ञात शांति का अनुभव किया। चौसठ इंद्रों व सहस्रों देवों ने धरती पर आकर भगवान ऋषभ का जन्मोत्सव मनाया।

यौगलिक उत्सव विधि से अपरिचित थे। फिर भी उन्होंने देखा-देखी जन्मोत्सव मना कर खुशी प्रकट की। इस अवसर्पिणी काल में जन्मोत्सव मनाने की विधि उस दिन से ही प्रारंभ हुई।

तीर्थंकरों की माताएं चौदह महास्वप्न देखती हैं। माता मरुदेवी ने भी चौदह स्वप्न देखे। उनमें प्रथम स्वप्न में मां ने वृषभ के दर्शन किए। बालक के मरु प्रदेश पर ऋषभ का चिह्न भी अंकित होने से उसको अभिधा मिली—ऋषभ कुमार।

## यों हुआ कुलोद्भव

उस समय तक न कोई जाति प्रचलित थी और न कुल। तीर्थंकर ऋषभ की जीवनी पढ़ते वक्त यह तथ्य ध्यान में आया कि एकवर्षीय बालक ऋषभ एक दिन अपने पिता नाभि की गोद में खेल रहा था। अचानक विभिन्न वस्तुएं एक थाल में सजा कर इंद्रदेव उपस्थित हुए। पिता नाभि ने ढेर-सारी वस्तुओं में से शिशु को कहा—जो खाना चाहो वह उठा लो। बालक ऋषभ ने ईख को पसंद किया। गन्ना उठा कर चूसने लगा। बालक ऋषभ की चेष्टा को निहार कर इंद्र ने प्रसन्नता प्रकट की और घोषित किया कि बालक ऋषभ को इक्षु प्रिय है अतः आज से इस वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश होगा। 'इक्ष्वाकु वंश' के साथ ही कुल-परंपरा की स्थापना हो गई।

## पाणिग्रहण का नया उपक्रम

ऋषभ से पूर्व भाई-बहिन का जो एक जोड़ा उत्पन्न होता था, वे ही समयांतर में दंपती बन जाते थे। विवाह संस्था का उदय नहीं हुआ था। एक दिन मरुदेवी माता भ्रमण करने को निकलीं। उन्होंने एक अकेली लड़की को देख कर विस्मयपूर्वक पूछा—'तुम्हारा साथी कहां गया?'—'चल बसा।'—लड़की के इस उत्तर पर मां मरुदेवी ने विचार किया कि यह अकेली लड़की अब जीवन कैसे बिताएगी? मैं इसे अपने घर ले जाऊं। बालक ऋषभ के साथ खेल कर समय व्यतीत करेगी। बड़ी होने पर ऋषभ की दो पत्नियां हो जाएंगी। माता मरुदेवी की वह सोच आगे जाकर सच में परिणत हुई।

## संतानोत्पत्ति के क्रम में परिवर्तन

यौगलिक युग में एक लड़का और एक लड़की जुड़वां पैदा होते थे। सबसे पहले ऋषभ के घर में इस क्रिया का बदलाव परिलक्षित हुआ। ऋषभ की दो पत्नियां थीं। एक पत्नी सुनंदा ने परंपरा की तरह एक युगल को जन्म दिया। बालक का नाम रखा गया बाहुबली और बालिका को अभिधा मिली सुंदरी। दूसरी पत्नी सुमंगला ने पचास युगलों को जन्म दिया। प्रथम युगल था भरत और ब्राह्मी का तथा शेष सभी युगल पुत्रों के थे।

## राज्याभिषेक नूतन नृप का

यौगलिक युग में आवश्यकताएं सीमित थीं। जनसंख्या कम थी। न खेती करने की अपेक्षा महसूस होती, न कपड़ा बनाने की जरूरत पड़ती और न ही मकान निर्माण आवश्यक समझा गया। लोग अरण्यवासी थे। भोजन, वस्त्र, आवास और शृंगार का साधन कल्पवृक्ष था। किंतु, जब सहज समृद्धि क्रमशः घटती गई और जनसंख्या तथा आवश्यकताएं बढ़ने लगीं, तब छीना-झपटी चालू हो गई। आपसी संघर्ष बढ़ने लगा। कुलकर नाभि के पास बार-बार शिकायतें पहुंचती। लेकिन, नाभि के समाधान से आगंतुकों को संतोष नहीं मिलता। वे कहते—मैं भूखा हूं, आप पेट भरने का प्रबंध कर दीजिए।

इसी क्रम में एक दिन कुछ युगल ऋषभ के पास ऐसे अभावों के बारे में चर्चा कर रहे थे। पीड़ित स्वरों में उन्होंने ऋषभ से पूछा—'क्या इस समस्या का कोई समाधान होगा, अथवा यों ही लड़-झगड़ कर जिंदगी पूरी करनी पड़ेगी?' ऋषभ ने सोचा, अब विधिवत राजा (सशक्त नेतृत्व) की अपेक्षा है। उसके अनुशासन से ही समस्याएं समाहित हो सकेंगी। राजा की अर्हता और दायित्व की अवगति पाकर लोगों ने कहा—'ऐसी क्षमता तो केवल आप में है।'—पिता

नाभि ने भी सामाजिक स्थितियों को देखते हुए ऋषभ को राजा घोषित कर दिया। युगलों ने अपनी कल्पना के अनुसार फूलों से राजा ऋषभ के शरीर को विभूषित किया। उच्चासन पर बिठा कर पैरों में जलाभिषेक किया। इस दृश्य को इंद्र अपने अवधि-ज्ञान से देख कर गदगद हो गए। त्वरित गति से मनुष्य लोक में आए और उनके विनय-भाव की सराहना की और उस स्थान का नाम रखा 'विनीता'। समयांतर में वहीं पर 'विनीता नगरी' बसी।

राजा ऋषभ ने व्यवस्था तंत्र को सक्रिय बनाया। अध्ययन की दिशाएं उद्घाटित कीं। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाएं सिखाई। बाहुबली को प्राणी की लक्षण विधा का उपदेश दिया। पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों एवं सुंदरी को गणित का अध्ययन करवाया।

## कर्तव्यबुद्धि और लोक-व्यवस्थाएं

राजा ऋषभ ने लोगों को भूख मिटाने के लिए खेती करने का प्रशिक्षण दिया। लोगों ने परिश्रम किया। खेती लहलहा उठी। अनाज पकने पर काट लिया गया, किंतु उस अनाज को बैल चरने लग गए। लोग दौड़े-दौड़े राजा ऋषभ के पास पहुंचे और अपनी समस्या रखी।—'बाबा! अनाज तो सारा बैल खा रहे हैं, हम क्या खाएंगे?'—ऋषभ ने एक उपाय बताया—'बैलों के मुंह पर छींकी बांध दो।'—छींकी बांध दी गई। पूरा दिन बीत गया, बैलों ने कुछ नहीं खाया। सायंकाल फिर एक नई समस्या लेकर वे ऋषभ के पास उपस्थित हुए। चारा-पानी सब कुछ सामने है, मुंह भी डालते हैं, पर खा नहीं पा रहे हैं। अब क्या करें? ऋषभ ने तत्काल कहा—'छींकी खोली अथवा नहीं?'—वे बोले—'आपने छींकी खोलने का कब कहा था?'—ऋषभ ने कहा—'जाओ, झटपट छींकी खोलो।'—छींकी खोलते ही बैलों ने खाना-पीना प्रारंभ कर दिया। वह छींकी बारह घड़ी तक बैलों के मुख पर लगी रही, जो आगे जाकर तीर्थंकर ऋषभ के लिए सघन अंतराय के रूप में प्रचलित हुई।

इस प्रकार राजा ऋषभ ने असि, मसि, कृषि का प्रवर्तन किया। बर्तन बनाना, भोजन पकाना, खाना आदि सब कुछ सिखाया।

## अभिनिष्क्रमण

कर्मयुग का सम्यक् प्रवर्तन करने के बाद जीवन के संध्या-काल में ऋषभ ने राज्य संपदा का परित्याग कर 'श्रमणत्व' स्वीकार किया। चार हजार व्यक्तियों ने अनुगामिता की। धर्म युग का प्रवर्तन हुआ। चूंकि तीर्थंकर छद्मस्थ अवस्था में मौन रहते हैं, अतः ऋषभ ने उनको किसी भी प्रकार का आदेश-निर्देश नहीं दिया। भिक्षा की विधि से अपरिचित और मार्गदर्शन के अभाव में आखिरकार वे कितने दिन भूखे रहते। ऋषभ जितना धैर्य तो उनमें था नहीं। परिणामतः भिन्न-भिन्न मार्गों का आलंबन लेकर कंदाहारी, मूलाहारी और फलाहारी बन कर विचरण करने लगे।

अब ऋषभ अकेले गांव-गांव, नगर-नगर में घूमते हुए घरों में प्रविष्ट होते। बाबा को पैदल परिभ्रमण करते देख लोग कहते—'बाबाजी! आपके पैर इतने कोमल हैं, आप पैदल क्यों चलते हैं? हमारे घर में श्रेष्ठ हाथी है, तेज तुरंग है। आप इनकी सवारी करें।'—महिलाएं हीरे-पन्ने से भरे थाल बाबा को उपहृत करतीं, किंतु बाबा कुछ भी उत्तर दिए बिना पुनः लौट जाते।

एक, दो, चार नहीं—पूरे बारह महीने व्यतीत हो गए। लेकिन, कोई अन्नदाता नहीं मिला। किसी ने भी भिक्षा के लिए निवेदन नहीं किया। अटूट मनोबल के सहारे धैर्यपूर्वक निराहार विहरण करते हुए भगवान ऋषभ हस्तिनापुर पधारे। वहां उनके प्रपौत्र श्रेयांसकुमार को वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन प्रथम भिक्षादाता बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। श्रेयांसकुमार ने पश्चिम रात्रि में एक स्वप्न देखा था कि—'मैं अमृत से सुमेरु पर्वत को सींच रहा हूं।' श्रेयांस प्रातःकाल के समय गवाक्ष में बैठे इसी स्वप्न के चिंतन में निमग्न थे। एकाग्र होने पर उन्हें जाति-स्मृति ज्ञान हुआ। इसी दौरान भिक्षा की विधि ज्ञात हो गई। इस तरह राज-मार्ग पर पधारते हुए भगवान को देख कर श्रेयांसकुमार ने भिक्षा हेतु निवेदन किया।

उस दिन श्रेयांसकुमार के यहां इक्षुरस के 108 घट भेंटस्वरूप आए हुए थे। उन घड़ों के रस से ऋषभ प्रभु के वर्षीतप का पारणा हुआ। तदनंतर अन्य लोग भी भिक्षा विधि से परिचित हुए। पारणे में दी गई भिक्षा इक्षुरस था। उस दिन तिथि थी—तृतीया। अतः वह दिवस 'अक्षय तृतीया' के रूप में विख्यात हुआ।

## संकल्प वर्षीतप का

हजारों श्रद्धालु ऋषभ प्रभु के वर्षीतप का अनुसरण

करते हुए प्रतिवर्ष एकवर्षीय तपस्या (एकांतर) का संकल्प करते हैं। अपने संकल्प बल के सहारे भीतरी शक्तियों का जागरण कर कोई भी व्यक्ति कठिन को सरल, दुर्लभ को सुलभ और असंभव लगने वाले कार्य को संभव कर दिखाता है। संकल्प को भाग्य का निर्माता माना गया है। तपस्वीजन इस संकल्प बल का आलंबन लेकर ही वर्षीतप के महाकुंभ में स्नान करते हुए प्रस्थान करते हैं। सर्दी, गर्मी, वर्षा—सब ऋतुओं में अपने मनोबल को कायम रखते हुए लक्ष्य तक पहुंचते हैं।

## वर्षीतप : निष्पत्तियां

स्वस्थ जीवन के लिए तीन बातों पर ध्यान केंद्रित करना आवश्यक है—आहार, निहार और अनशन। प्रत्येक खाद्य-वस्तु में अमृत भी है और विष भी है। पोषक तत्त्वों की पूर्ति से ही नहीं, साथ में जमने वाले विष के निष्कासन से भी स्वास्थ्य का संबंध है। शरीर में क्षारीय और अम्लीय—दोनों तत्त्वों का अनुपात यदि ठीक नहीं होता है तो आहार-त्याग की आवश्यकता होती है। अनाहार को महाशक्ति माना गया है। वर्षीतप का मूल्य इसी दृष्टि से है।

शरीर शास्त्र के अनुसार हृदय, गुर्दे और फेफड़ों की क्षमता सैकड़ों वर्ष कार्य करने की है और इनकी शक्ति के ह्रास का कारण है—आहार का असंयम। अधिक भोजन करने से ऊर्जा का अधिक व्यय होता है। स्थानांग सूत्र में बीमारी का एक कारण अति आहार बतलाया गया है। अकाल मृत्यु के निमित्तों में एक प्रमुख हेतु अधिक आहार भी माना गया है। आहार का अविवेक बीमारी, बुढ़ापा और मौत को शीघ्र बुलाता है। इन सबसे बचने का श्रेष्ठ उपाय है—तपस्या।

वर्षीतप की प्रयोगशाला में अपने आपको पकाने वाला इस यथार्थ से परिचित हो जाता है। जिस प्रकार भवन का आधार नींव है, उसी प्रकार शरीर रूपी इमारत की मजबूती आहार-संयम पर आधारित है। यदि व्यक्ति भोजन ज्यादा मात्रा में करता है अथवा बार-बार खाता है, या अमुक पदार्थ अतिमात्रा में खाता है तो उसे पचाने वाला रस कम उपलब्ध होता है। परिणामतः भोजन सड़ांध पैदा करने लगता है और बुद्धि की निर्मलता कम हो जाती है। दिमाग भारी हो जाता है। व्यक्ति का शरीर व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। वर्षीतप स्वीकार करने वाला सहज रूप में आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर समाधि का जीवन जी सकता है। संयमित जीवन में सुख-शांति का स्रोत बहता रहता है।

## तेजस्विता ही जीवन है

मनुष्य के पास औदारिक शरीर के साथ एक सूक्ष्म शरीर भी है। जिसका नाम है—'तैजस'। तैजस-शरीर का लक्षण है—आकर्षण पैदा करना। जिसके 'तैजस' का विकास हो जाता है, उसका आभामंडल तेजोमय बन जाता है, आकर्षक बन जाता है। हमारे शरीर में भी तैजस-शक्ति है। प्राण-शक्ति का संचालन वहीं से होता है। इस 'तैजस-शरीर' के विकसित होने पर पाचनतंत्र ठीक रहता है। तृप्ति का अनुभव होता है। चेहरे की तेजस्विता बढ़ती जाती है।

स्वभावतः हर कोई व्यक्ति तेजस्वी बनना चाहता है। तैजस-शरीर को साधने का उपाय है—तप। भगवान ऋषभ देव ने बारह माह तक निर्जल तपस्या की। भगवान महावीर ने छ माह तक चौविहार तप किया। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि उपवास और लंबी तपश्चर्या 'तैजस-शरीर' को सक्रिय बनाती है। जीवन चलाने के लिए भोजन जरूरी है, पर तेजस्वी रहने के लिए निराहार रहना भी आवश्यक है। नीतिकारों ने बहुत सुंदर लिखा है—

**आहार निद्रा भय मैथुनं च समान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम।**
**धर्मोहि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीना पशुभिस्समानाः।।**

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि वह धर्म कौन-सा है, जो मनुष्य को पशु से पृथक दिखाता है। इसका उत्तर है—अहिंसा, संयम और तपमय धर्म। पशु और मनुष्य में क्या अंतर परिलक्षित हो? विवेकशीलता ही मनुष्य की मूल्यवान जिंदगी।

## सामाजिक सहयोग उपक्रम

आदमी सब-कुछ सहन कर सकता है, किंतु भूख असह्य होती है। इसे भुक्त-भोगी ही जान सकता है। अन्न के अभाव में आज करोड़ों लोग नारकीय यातनाएं झेलते हैं। आज की अर्थनीति गरीबी-निवारण में बहुत कम सहायक सिद्ध हो रही है। करुणा, संवेदनशीलता और सहानुभूति के तत्त्व मनुष्य की जिंदगी से गायब होते जा रहे हैं। समाज को जोड़ने वाले तत्त्व तिरोहित हो रहे हैं। वर्षीतप जैसे उपाय से भूख की विकट समस्या को समाहित कर

सकते हैं। वर्षीतप करने वाले न सिर्फ स्वयं निहाल और खुशहाल हैं, अपितु यत्र-तत्र दृष्टिगत होने वाली भूख की समस्या का समाधान करने में भी निमित्त बनते हैं।

अक्षय तृतीया को अगर 'विश्ववंद्य वर्षीतप महायज्ञ' स्वीकार कर लिया जाए तो भूख की समस्या बहुत हद तक कम हो सकती है। इसी के साथ यदि लोग संकल्पबद्ध होते हैं और भोग की सीमा करते हैं, तो वे करोड़ों लोग—जो भूखे सोते हैं, उन्हें पेटभर भोजन मिल सकता है। 'अपराधी-चेतना' का परिष्कार हो सकता है। वर्षीतप के आलंबन के द्वारा लोग अपनी जिंदगी में स्वर्णिम सूरज उगा सकते हैं।❖

## अध्यात्म, स्तवन और भारतीय वाङ्मय पृष्ठ 18 का शेष

का प्रयोग भी मिलता है। स्तुति का अर्थ है—प्रशंसा। प्रशंसा में नम्रता व गुणानुराग के भाव सन्निहित रहते हैं। महापुरुषों के सद्गुणों की प्रशंसा करने से जीवन में शनैः-शनैः उन गुणों को उतारने की प्रेरणा मिलती है और उन गुणों के प्रति आकर्षण पैदा होता है। साथ ही गुणीजनों के प्रति मन में श्रद्धा के भाव भी पुष्ट होने लगते हैं।

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति 'चौबीसी' में है। जैन साहित्य में स्तुति की परंपरा अति प्राचीन है। जैन संत-परंपरा में भी भक्ति-रस से स्निग्ध और आत्म-निवेदन से परिपूर्ण अनेक स्तोत्र-काव्यों का प्रणयन हुआ है। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु कृत 'उवसग्गहर स्तोत्र', आचार्य समंतभद्र कृत 'स्वयंभू स्तोत्र', 'देवागम स्तोत्र', 'युक्तानुशासन', 'जिनशतकालंकार', आचार्य मानतुंग का 'भक्तामर स्तोत्र', आचार्य सिद्धसेन का 'कल्याण मंदिर स्तोत्र', 'द्वात्रिंशिकाएं', मानदेव सूरि द्वारा विरचित 'तिजय पहुत स्तोत्र', मुनि सुंदरसूरि रचित 'संतिकर स्तोत्र', नंदीषेण मुनि का 'अजित शांति स्तवन', आचार्य हेमचंद्र विरचित 'अयोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका' और 'अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका', प्रज्ञाचक्षु महाकवि श्रीपाल विरचित 'सर्व जिनपति स्तुति', जय तिलकसूरि कृत 'चतुर्हारावली चित्रस्तव', विवेकसागर कृत 'वीतराग स्तव', नयचंद सूरिकृत 'स्तंभ पार्श्व स्तव', आचार्य कुंदकुंद द्वारा निर्मित 'तित्थयर शुद्धि', 'सिद्ध भक्ति', जयाचार्यश्री (आचार्यश्री जीतमलजी) का 'चतुर्विंस्तवन', 'चौबीसी (छोटी व बड़ी)', आचार्य तुलसी का 'चतुर्विंशति स्तवन' (चतुर्विंशति गुण-गेय-गीतिः), आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का 'सिद्ध स्तवन', आचार्य जयमल की 'बड़ी साधु वंदना' इत्यादि स्तुतिपरक ग्रंथ इस क्रम में विशेष उल्लेखनीय एवं विमर्शनीय हैं।

उपरोक्त स्तोत्र जहां भगवत्भक्ति से ओतप्रोत हैं, वहां चामत्कारिक रूप से कष्टों, चिंताओं एवं विपत्तियों का निवारण करने वाले भी हैं। उनके विविध पद्यों के विशेषपाठ से अनिष्ट-हरण की अनेक घटनाएं भी इतिहास प्रसिद्ध हैं। उक्त सभी स्तोत्र उच्च आध्यात्मिक एवं भक्ति भावनाओं से परिपूर्ण होने के कारण आंतरिक मंगल के उत्प्रेरक हैं। बाह्य मंगलों की अपेक्षा आंतरिक मंगल सदैव उच्च स्तरीय होते हैं। अतएव इनके स्मरण से स्तोता को मांगलिक जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है, उच्चारण से प्राणों का ऊर्ध्वीकरण होता है, ज्ञानियों और वीतराग आत्माओं के प्रति नम्रता होने से ज्ञान का विकास होता है। अतः मंगल भावनाओं से परिपूर्ण ये आध्यात्मिक स्तोत्र जगत में मांगल्य भावनाओं को वृद्धिंगत करते हैं।

उपर्युक्त स्तुति सर्वेक्षण के निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिंदुओं में 'नमो नारायणं', बौद्धों में 'बुद्धं शरणं गच्छामि' और जैनों में 'णमों अरहंताणं'—इन मंत्रपदों में वस्तुतः गुणों के उस स्वरूप को ही नमस्कार करके, उनकी शरण में जाने को कहा गया है और यह भारतीय परंपरा की ही बहती धारा है कि साधुता को सभी ने नमस्कार किया है। अलबत्ता एक आश्चर्य भरा साम्य सभी की एकता को प्रकट कर रहा है। जैसे जैनों के तीर्थंकर चौबीस, बौद्धों के दीपंकर चौबीस, मुसलमानों के पयंबर चौबीस और हिंदुओं के अवतार भी चौबीस हुए हैं और अपनी इसी आध्यात्मिक संपदा के कारण भारत जगद्गुरु के नाम से विश्रुत रहा है।❖

क्रमशः शेष अगले अंक में

### संदर्भ :


1. मनु स्मृति, 2/121
2. श्रीमद्भगवत्पुराण, 7/5/23
3. श्रीमद्भगवत्गीता, 18/63
4. उत्तराध्ययन सूत्र, 29/11
5. आवश्यक निर्युक्ति, 1200
6. कल्याण—संतवाणी अंक—कबीर पृ./202 ❖❖

पदाभिषेक दिवस : हर्ष-हर्ष
❑ वैशाख शुक्ला 10-11 ❑
13 मई

*वही समाज और संगठन विकास कर सकता है, जिसका नेता योग्यता का अंकन कर अपने साथियों के उत्थान और अभ्युदय का क्षितिज उद्घाटित करता है तथा उनकी शक्ति का सही उपयोग करता है। संगठन में विविध रुचि के लोगों की आवश्यकता होती है। आचार्यश्री महाश्रमणजी अपने शिष्यों को योग्यता के अनुसार अलग-अलग कार्यों में नियोजित करते हैं। दशवेंआलियं सूत्र में सुंदर निर्देश मिलता है—'जत्तेण कन्नं व निवेसयंति'—पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्यकुल में स्थापित करता है, वैसे ही आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं। आचार्यश्री महाश्रमणजी भी योग्यतानुसार किसी को आगम के कार्य में, किसी को सेवाकार्य में, किसी को व्यापक प्रचार-प्रसार में और किसी को साधना में नियुक्त करते हैं।*

# आचार्यश्री महाश्रमण : एक निर्लिप्त नेतृत्वकर्ता

*मुनि दीपकुमार*

किसी भी समाज या संगठन का भविष्य उसके कुशल नेतृत्व पर निर्भर करता है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जिन संगठनों ने सफलता के शिखर का आरोहण किया है, उनका नेतृत्व सबल और लक्ष्य के प्रति समर्पित रहा है। ऊंचे आदर्शों की प्रेरणा देने वाले बहुत मिलते हैं, पर आचरण के अभाव में अपने अनुयायियों पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। आज की नई पीढ़ी बहुत बुद्धिमान है। उसे कोई भी परामर्श दिया जाता है, तो वह परामर्शक और मार्गदर्शक के जीवन को तौलती है। सफल और सक्षम नेतृत्व वही दे सकता है, जिसका जीवन **'जहावाइ तहाकारी'** के अनुरूप हो, आदर्शों के प्रति पूर्ण समर्पित हो। संस्कृत कवि ने लिखा है—**यद् यदाचरति श्रेष्ठ स्तदेवेतरोजनः**—श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करता है, वैसा ही दूसरे लोग आचरण करते हैं।

आज संक्रमण काल है। पुराने मूल्यों के स्थान पर नए मूल्य स्थान ग्रहण कर रहे हैं। इस स्थिति में नेतृत्व करने वाला चिंतनशील और दूरदर्शी होना जरूरी है। **पुराणमित्येव न साधुसर्वं न चापि नूनं नव मित्यवद्यम्**—न सब पुराना श्रेष्ठ है और न सब नया अच्छा है। विवेकशील नेतृत्वकर्ता नए और पुराने के आग्रह से दूर होकर हितकारी और कल्याणकारी मार्ग का चुनाव करते हैं। आचार्यश्री महाश्रमणजी तेरापंथ धर्मसंघ का नेतृत्व कर रहे हैं। उनका नेतृत्व कौशल कैसा है? हम यहां उसकी चर्चा करें।

### गतिमान व्यक्तित्व

जो प्रतिक्षण गतिमान होता है, वह नेतृत्व सफल होता है। अपनी उर्वर प्रतिभा से वह विकास के नए-नए आयामों का उद्घाटन करता रहता है। 'चरैवेति-चरैवेति'

उसका जीवंत मंत्र होता है। वह साहस के साथ मार्गवर्ती अवरोधों को पार करता है। उसके तेजस्वी और स्फूर्तिमान व्यक्तित्व के प्रभाव से अनुयायी वर्ग में भी अभिनव उत्साह का संचार हो जाता है। आचार्यश्री महाश्रमणजी का व्यक्तित्व इसी तरह गतिमान है। अपने धर्मसंघ को ऊंचाइयां प्रदान करने के लिए वे अहर्निश प्रयत्नशील हैं। संघ का विकास कैसे हो, इसके लिए वे चिंतन करते रहते हैं। भगवती सूत्र में एक शब्द आता है—**अलमत्थु**—अलमस्तु का अर्थ है, शिखर तक पहुंच जाना। आचार्यश्री महाश्रमणजी अपने धर्मसंघ को अलमस्तु तक पहुंचाना चाहते हैं।

## निर्लिप्तता

नेतृत्व के लिए निर्लिप्तता आवश्यक है। जो किसी परिस्थिति या पदार्थ से बंध जाता है, उसमें लिप्त हो जाता है, तो उसके चरण भी रुक जाते हैं। वह लक्ष्य की ओर आगे नहीं बढ़ सकता। किसी कवि ने कहा भी है—**'जाके मन में अटक है, सोहि अटक रहा।'**—नेतृत्व के साथ पद-प्रतिष्ठा की प्राप्ति सहज है, पर उसे पाकर जो निर्लिप्त रहता है—वह महान होता है। आचार्यश्री महाश्रमणजी की नेतृत्व शैली ऐसी ही निर्लिप्तता से ओतप्रोत है। एक बार आप आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के साथ राजस्थान के लक्ष्मणगढ़ नगर में विराज रहे थे। निकटवर्ती गांव के लोग अपने यहां पर चातुर्मास के निवेदन के लिए आए। उन्होंने आपसे निवेदन किया—'पूज्यवर! आप हमारे गांव में साधु या साध्वियों का चातुर्मास देने की कृपा करें। आपके हाथ में सब कुछ है।'—तब आपश्री ने कहा—'हमारे हाथ में कुछ नहीं है, हमारे हाथ में तो केवल हाथ की रेखाएं हैं।'—कितनी निर्लिप्तता भरा उत्तर था आचार्यश्री महाश्रमणजी का! जहां ऐसी निर्लिप्तता होती है, वहां नेतृत्व सुफलता का वरण करता है।

## अंगुलि-निर्देश

संगठन को दीर्घजीवी और शुद्ध बनाने हेतु अंगुलि निर्देश जरूरी होता है। यदि किसी सदस्य की स्खलना और त्रुटि हो, तो नेतृत्वकर्ता के लिए अंगुलि निर्देश करना अपेक्षित होता है। आचार्यश्री तुलसी अंगुलि निर्देश के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। वे कहा करते थे—'बुराई आए और उसी समय अंगुलि निर्देश कर दिया जाए, तो वह अपना घर नहीं बनाती।'

उन्होंने व्यवहार-बोध में लिखा है—

**शिक्षण और प्रशिक्षण की,**
**नैसर्गिक वृत्ति रही मेरी।**
**कहीं किसी की स्खलना पर,**
**अंगुलि-निर्देश नहीं देरी।।**

आचार्यश्री महाश्रमणजी ने गुरुदेवश्री तुलसी की सन्निधि में यह शिक्षा ग्रहण की है कि कहां पर अंगुलि निर्देश करना चाहिए। जब वे किसी की भूल पर अंगुलि निर्देश करते हैं, तो ऐसा एहसास होता है कि मानो गुरुदेवश्री तुलसी का ही रूप धारण कर लिया हो। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जब अहिंसायात्रा करते हुए मध्यप्रदेश पधारे, तब झाबुआ क्षेत्र के श्रावकों की विशेष अर्ज पर युवाचार्यश्री महाश्रमणजी को झाबुआ की तरफ भेज दिया। एक बार आचार्यश्री महाश्रमणजी ने सायंकाल विहार किया और पहुंचते-पहुंचते देरी हो गई। सूर्यास्त का समय हो आया। कुछ संत पीछे रास्ते में पंचमी-समिति के लिए गए हुए थे। युवाचार्यश्री ने साथ में जो संत थे, उनमें से एक संत को कहा—'जो पंचमी गए हुए हैं, उनको सूचना हो जाए कि वे पानी प्रवास स्थल पर नहीं लाएं।'—उन मुनिजी ने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया, पर जो शौचार्थ गए थे, उनको पूरी बात समझ में नहीं आई और वे पांव धोने के लिए पानी ले कर आ गए। जब वे संत स्थान पर आए, तब आचार्यश्री ध्यानस्थ थे। जब उन्होंने ध्यान संपन्न किया, तब संतों में से एक को पांव धोते देखा, उस समय आचार्यश्री महाश्रमणजी (तत्समय में युवाचार्य) ने आचार्यश्री तुलसी जैसी भाव-भंगिमा बना कर कठोर भाषा में उपालंभ देते हुए कहा—'तुम लोग यहां पानी कैसे लाए?'—और उनको प्रायश्चित्त भी दिया। उन संतों ने अपनी गलती मंजूर की और उसे नम्रता से स्वीकार किया। उनकी नम्रता देख कर आचार्यश्री ने प्रायश्चित्त माफ कर दिया। इस प्रसंग से हम जान सकते हैं कि आचार्यश्री महाश्रमणजी प्रमाद को अक्षम्य मानते रहे हैं। नेतृत्वकर्ता में यह महत्त्वपूर्ण क्षमता होनी चाहिए कि अंगुलि-निर्देश से स्खलनाओं का आभास करा सकें। गुरुदेवश्री तुलसी ने एक श्लोक में लिखा है—

**परिणामं प्रमादस्य योनुभूतिं नयेत् पटुः।**
**स लोहं गालयित्वैव, सन्धत्तेऽनेन चायसा।।**

जो कुशल शासक अपने अनुगामियों को भूल के परिणामों की अनुभूति करा सकता है, मानो वह लोहे को गला कर उसको दूसरे लोहे से सांध सकता है।

## शीघ्र निर्णायकता

नेतृत्वकर्ता की निर्णायक शक्ति जितनी बलवान होगी, उसका नेतृत्व उतना ही सफल होगा। उसे समय-समय पर अप्रत्याशित निर्णय लेने होते हैं। थोड़ा-सा विलंब भी कठिनाई उत्पन्न कर सकता है और किसी भी निर्णय से पहले गहरा चिंतन होना भी जरूरी होता है। दूरदर्शितापूर्ण किया हुआ निर्णय ही लक्षित मंजिल तक पहुंचा सकता है। जिसका दिमाग संतुलित होता है, सही निर्णय करने में वही सफल होता है। अच्छा कार्य जितनी शीघ्रता से हो उतना लाभप्रद होता है। आचार्यश्री महाश्रमणजी शीघ्र निर्णय करने में कुशल हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के समय बहुश्रुत परिषद का चिंतन चल रहा था, पर उस समय उसका गठन नहीं हो सका। आचार्यश्री महाश्रमणजी ने आचार्यपद पर आरूढ़ होते ही बहुश्रुत परिषद का गठन कर दिया। उन्होंने और भी कई ऐसे निर्णय किए, जिससे हम उनकी निर्णय क्षमता से परिचित हो सकते हैं।

## सहनशीलता

नेतृत्व के लिए सहनशील होना जरूरी है। नेता का दायित्व महान होता है। उसके लिए हर परिस्थिति में समभाव की साधना जरूरी है। उसके समक्ष अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों प्रकार के प्रसंग उत्पन्न होते रहते हैं। यदि वह सहनशील है, तो शूल भी फूल बन जाएंगे और हर संघर्ष को झेलने की क्षमता हासिल कर लेगा। प्राचीन सुभाषित में कहा है—**'क्षान्तिः संघसमृद्धये'**—संघ की वृद्धि के लिए शांति जरूरी है। जो नेतृत्वकर्ता सहनशील नहीं होता, उसके संगठन का आधार दुर्बल हो जाता है। वह शीघ्र टूट जाता है। आचार्यश्री महाश्रमणजी की सहनशीलता अद्भुत है। धर्मसंघ का नेतृत्व करते हुए कितना सहना होता है—हम अनुमान लगाएं। सब तरह की विचारधारा वाले व्यक्ति होते हैं। अगर नेता सहनशील नहीं है, तो नेतृत्व सफल नहीं हो सकता। कभी-कभी संघ के समक्ष परीक्षा का समय भी आ जाता है। इन सभी परिस्थितियों में आचार्यश्री महाश्रमणजी की सहिष्णुता अनुकरणीय और श्लाघनीय होती है।

## प्रोत्साहन

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लिखा है—**शिष्याः प्रोत्साहनं नेयाः कार्य वर्धापनं वरम्**—शिष्यों को प्रोत्साहन देना, उनके कार्यों का समुचित वर्धापन करना नेता का मुख्य दायित्व होता है। अधिनेता के द्वारा अपने अनुयायियों को प्रोत्साहन देना जरूरी होता है। जिस सेना का सेनापति सैनिकों में प्राण फूंकना जानता है, उस सेना की विजयपताका फहराती ही रहती है। सही नेतृत्वकर्ता सच्चा मार्गदर्शक और संचालक भी होता है। उसे समय-समय पर अपने साथियों और सहयोगियों में नए उत्साह का संचार भी करना होता है। व्यर्थ की प्रतिक्रियाओं का भी सामना करना होता है। कहते हैं—लोग चढ़े हुए व्यक्ति का उपहास करते हैं और पैदल चलने वाले का भी उपहास करते हैं। इस प्रकार मन को दुर्बल बनाने वाले और भटकाने वाले चारों ओर भरे पड़े हैं, पर शास्ता अपने साथियों को स्थिर रखते हुए उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। आचार्यश्री महाश्रमणजी अच्छा कार्य करने वाले साधु-साध्वियों, समण-समणियों और श्रावक-श्राविकाओं को प्रोत्साहित करते हैं, उनका वर्धापन करते हैं। मर्यादा महोत्सव पर सैकड़ों साधु-साध्वियां एकत्रित होते हैं, उस समय आचार्यश्री उनको बहुत प्रोत्साहन देते हैं। प्रोत्साहन प्राप्तकर्ता का उत्साह इससे शतगुणित हो जाता है। गुरुदेवश्री तुलसी कहा करते थे—'अच्छे कार्यकर्ता को यदि प्रोत्साहन नहीं मिलता है, तो वह हतोत्साहित हो जाता है।'

## नियोजन

संस्कृत भाषा का श्लोक है—**अमंत्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्, अयोग्यःपुरुषो नास्ति; योजकस्तत्र दुर्लभः**—दुनिया में कोई भी अयोग्य व्यक्ति नहीं है, उसकी योग्यता और रुचि के अनुसार नियोजन करने वाला मिलना कठिन है। नियोजन कला

शेष पृष्ठ 58 पर

बालकथा

रामगोपाल मन-ही-मन बड़ा दुखी हुआ। वह अपने पिता से कुछ कह तो नहीं सकता था, पर मन ही मन सोचा कि उसके पिता यह क्या कर रहे हैं? जिस भगवान ने हम ब्राह्मणों को पैदा किया है, उसी भगवान ने हरिजनों को भी पैदा किया है। फिर हमारे पिता को हरिजनों से इतनी घृणा क्यों है? उनके मन में सुबुद्धि कैसे पैदा होगी, कैसे?

जाड़े का मौसम था। इतवार का दिन था। स्कूल में छुट्टी थी। बजरंगी कई दिनों से चारपाई पर पड़ा था। उसे तेज ज्वर और जुकाम था। बजरंगी ने रामगोपाल को बुला कर कहा—'बेटा रामगोपाल, क्या तू मुझे कोई भजन सुना सकता है?'

रामगोपाल ने उत्तर दिया—'क्यों नहीं पिताजी?'

# रामगोपाल की खुशी

व्यथित हृदय

रामगोपाल किशोर-वय का एक बालक एक गांव में रहता था। उम्र उसकी सोलह-सत्तरह वर्ष की थी। वह बारहवीं कक्षा में पढ़ता था।

रामगोपाल सवर्ण जाति का था। पढ़ने में बड़ा तेज था। समझदार और विचारवान भी था। वह अपनी किताबों के अतिरिक्त महान पुरुषों के जीवन की कहानियां भी पढ़ा करता था।

रामगोपाल था तो सवर्ण, पर वह सभी लड़कों से बड़ा मेल रखता था। मेल रखने में वह अमीर-गरीब और ऊंच-नीच का बिल्कुल खयाल नहीं करता था। वह सबके साथ खेलता-कूदता था और सबके साथ बैठ कर खाना भी खा लिया करता था।

स्कूल में कई हरिजन बालक भी पढ़ते थे। रामगोपाल की उनके साथ भी गाढ़ी मित्रता थी। उनके साथ खेलने-कूदने और खाने-पीने में भी रामगोपाल को कोई संकोच नहीं होता था।

पर, रामगोपाल का पिता बजरंगी उसका बिल्कुल उलटा था। उसे अपने पर बड़ा घमंड था। दूसरों की तो कोई बात ही नहीं, वह अपने जाति-भाइयों के हाथ का खाना भी बहुत सोच-विचार कर खाता था।

बजरंगी जब अपने लड़के को हरिजन बालकों के साथ खेलता-कूदता देखता तो उसे बड़ा गुस्सा आता था। वह रामगोपाल को प्रायः समझाया करता कि देखो, तुम उच्च कुल के लड़के हो। हरिजन बालकों के साथ खेलना-कूदना बंद कर दो, पर रामगोपाल के ऊपर ऐसी बातों का जरा भी प्रभाव न पड़ता। वह सोचता, सब एक ही ईश्वर की संतान हैं। फिर उन्हें छूने से धर्म कैसे नष्ट हो जाता है? क्या एक भाई को छूने से दूसरे भाई का धर्म नष्ट हो जाता है?

दोपहर का समय था। फीस जमा करने का दिन था। पिता बजरंगी अपने बेटे रामगोपाल की फीस जमा कराने के लिए स्कूल गया था।

पिता जब स्कूल गया, तो उसने देखा कि एक घड़े में पानी रखा हुआ है और सभी लड़के उसी घड़े से पानी निकाल-निकाल कर पी रहे हैं। उन लड़कों में रामगोपाल भी है।

बजरंगी के मन में तो आया कि वह रामगोपाल के हाथ से लुटिया छीन कर फेंक दे, पर वह स्कूल था। मन में गुस्सा तो हुआ, पर चुपचाप घर लौट गया।

छुट्टी होने पर रामगोपाल जब घर गया, तो पिता ने उसे अपने पास बुलाया। वह पहले से ही उसकी बाट देख रहा था। पिता ने रामगोपाल की ओर देखते हुए प्रश्न किया—'क्या तुम रोज उसी घड़े का पानी पीते हो?'

रामगोपाल ने उत्तर दिया—'मैं ही नहीं, स्कूल के सभी लड़के उसी घड़े का पानी रोज पीते हैं। और एक ही लुटिया से पीते हैं।'

बजरंगी ने कुछ क्रोध के साथ कहा—'पर उस लुटिया से तो हरिजनों के बालक भी पानी पी रहे थे, तो क्या तुम हरिजनों का जूठा पानी पीते हो?'

रामगोपाल ने उत्तर दिया—'मैं यह सब कुछ नहीं जानता। स्कूल के हम सभी लड़के एक ही घड़े का और एक ही लुटिया से पानी रोज पीते हैं।'

बजरंगी कुछ चिढ़ कर बोला—'पर अब तुम्हें ऐसा नहीं करना होगा। यदि तुम ऐसा करोगे, तो मैं तुम्हारा स्कूल जाना बंद कर दूंगा।'

रामगोपाल ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप अपने पिता के सामने से चला गया।

रामगोपाल मन-ही-मन बड़ा दुखी हुआ। वह अपने पिता से कुछ कह तो नहीं सकता था, पर मन ही मन सोचा कि उसके पिता यह क्या कर रहे हैं? जिस भगवान ने हम ब्राह्मणों को पैदा किया है, उसी भगवान ने हरिजनों को भी पैदा किया है। फिर हमारे पिता को हरिजनों से इतनी घृणा क्यों है? उनके मन में सुबुद्धि कैसे पैदा होगी, कैसे?

जाड़े का मौसम था। इतवार का दिन था। स्कूल में छुट्टी थी। बजरंगी कई दिनों से चारपाई पर पड़ा था। उसे तेज ज्वर और जुकाम था।

बजरंगी ने रामगोपाल को बुला कर कहा—'बेटा रामगोपाल, क्या तू मुझे कोई भजन सुना सकता है?'

रामगोपाल ने उत्तर दिया—'क्यों नहीं पिताजी?'

रामगोपाल अपने पिता के पास बैठ कर भजन सुनाने लगा—

**प्रभु तुम चंदन हम पानी।**
**जाकी अंग-अंग बास समानी।।**

रामगोपाल पूरा भजन सुना गया। भजन के अंत में रैदास का नाम सुन कर बोला—रैदास तो चमार को कहते हैं?

रामगोपाल ने उत्तर दिया—हां पिताजी, रैदास चमार ही थे। बहुत बड़े भक्त थे। यह भजन उन्हीं का बनाया हुआ है।

रामगोपाल मन ही मन सोचने लगा। कुछ देर तक सोचता रहा। फिर पिता की ओर देखता हुआ बोला—'पिताजी! एक बात पूछूं, बुरा न मानिएगा!'

'बुरा क्यों मानूंगा? पूछो बेटा।'—पिता ने उत्तर दिया।

रामगोपाल नम्रता-भरी वाणी में बोला—'पिताजी, रैदास ने एक नहीं करोड़ों बार अपने मुख से राम और हरि का नाम लिया था। रैदास की तरह न जाने कितने हरिजन हैं, जो रोज राम और हरि का नाम लेते हैं। हरिजनों के लिए हुए उसी नाम को आप भी अपने मुख से बोलते हैं।'

रामगोपाल चुप होकर मन ही मन सोचने लगा। बजरंगी उसकी ओर देखता हुआ बोला—'तू कहना क्या चाहता है? चुप क्यों हो गया? कहता क्यों नहीं?'

रामगोपाल ने नम्रता के साथ कहना आरंभ किया—'पिताजी, रैदास आदि बहुत से हरिजनों के मुखों के द्वारा लिया हुआ हरि और राम का नाम भी तो जूठा हो जाता है। फिर आप उस नाम को कैसे लेते हैं?'

बजरंगी सकपका सा गया। वह रामगोपाल की ओर देखता हुआ बोला—'तू क्या कह रहा है? भगवान का नाम भी क्या कहीं जूठा होता है।'

बजरंगी चुप हो गया। वह स्तब्ध हुआ रामगोपाल की ओर देखने लगा, वह समझ गया, उसका बेटा रामगोपाल क्या कहना चाहता है।

बजरंगी अपने बेटे रामगोपाल की ओर देखता हुआ बोल उठा—'ठीक है बेटा, ठीक है। जिस तरह मैं हरि का जूठा नाम लेता हूं, पर वह जूठा कहां होता है। सच बेटा! आज मैं समझ गया कि भगवान को कोई जूठा नहीं कर सकता। वहां कोई भेद-भाव नहीं। जब वहां भेद-भाव नहीं तो हम ही यह क्यों करें! तुमने मेरी आंख खोल दी। अब मैं तुम्हें कभी मना नहीं करूंगा।'

उस दिन के बाद बजरंगी ने रामगोपाल से कभी कुछ नहीं कहा। सच तो यह है कि उसके मन में सुबुद्धि पैदा हो गई थी। अब वह अपने और हरिजन में अंतर नहीं मानता था। वह हरिजन का अर्थ समझ गया। जो 'हरि' का होता है, वह 'हरिजन' होता है।

पिता के इस बदले हुए भाव को देख कर रामगोपाल के मन में जो खुशी पैदा हुई थी, उसकी तो कोई कल्पना तक नहीं कर सकता। ❖

## आचार्यश्री महाश्रमण : एक निर्लिप्त नेतृत्वकर्ता

पृष्ठ 55 का शेष

नेतृत्व का एक सबल गुण है। वही समाज और संगठन विकास कर सकता है, जिसका नेता योग्यता का अंकन कर अपने साथियों के उत्थान और अभ्युदय का क्षितिज उद्घाटित करता है तथा उनकी शक्ति का सही उपयोग करता है। संगठन में विविध रुचि के लोगों की आवश्यकता होती है। आचार्यश्री महाश्रमणजी अपने शिष्यों को योग्यता के अनुसार अलग-अलग कार्यों में नियोजित करते हैं। दशवेंआलियं सूत्र में सुंदर निर्देश मिलता है—**'जत्तेण कन्नं व निवेसयंति'**—पिता जैसे अपनी कन्या को यत्नपूर्वक योग्यकुल में स्थापित करता है, वैसे ही आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं। आचार्यश्री महाश्रमणजी भी योग्यतानुसार किसी को आगम के कार्य में, किसी को सेवाकार्य में, किसी को व्यापक प्रचार-प्रसार में और किसी को साधना में नियुक्त करते हैं। सचमुच आचार्यश्री महाश्रमणजी कुशल नियोजक हैं। ❖


घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **'जैन भारती'** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **'जैन भारती'** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

***जैन भारती***
**एक संपूर्ण पत्रिका है।**
**वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए**
***जैन भारती***
**पढ़ें—सबको पढ़ाएं**

*व्यवस्थापक*
***जैन भारती***
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401




भंवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मद्रित।

*With best compliments from :*

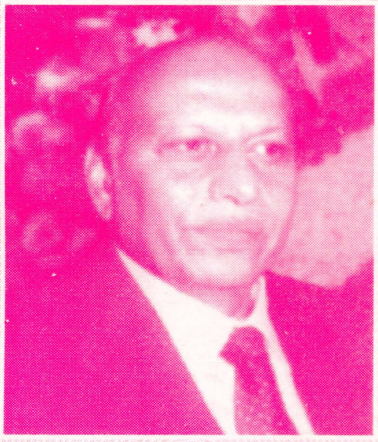

स्व. झुमरमलजी बच्छावत

# Deeplok Securities Ltd.

**Rajendra Bachhawat**
**Surendra Bachhawat**
**Mahendra Bachhawat**

"Ideal Plaza"
11/1, Sarat Bose Road, 2nd Floor, South Block
Room No. 207, **Kolkata** 700020
Tel : 2283 7495, 2283 7496

जैन भारती, मई, 2011 ■ प्रेषण दिनांक 28 अप्रैल, 2011
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

*With Best Compliments From*

**B. C. Jain [Bhalawat]**
FCA, ACS, ICWA
Director

SUNRISE
HOUSING CONSTRUCTIONS LTD.

Sunbeam Chambers, Ground Floor
New Marine Lines, Opp. Liberty Cinema, MUMBAI 400020 India
Tel. No.: 022-22096000/ 1/ 4 • Fax: 022-22095000
Mobile: 09821117813 • Email: cabcjain@gmail.com

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779
नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।